पल्लविनी

श्री सुमित्रानंदन पंत

राजकमल प्रकाशन

चतुर्थ परिवर्द्धित संस्करण, संवत् २०२०

मूल्य ११.०० रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिण्टर्स
शिवाश्रम, दिल्ली-६

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०
८ फैज बाजार,
दिल्ली-६

श्री प्रकाशवती को

एक दृष्टिकोण

(तीसरे संस्करण से)

'पल्लविनी' पहले-पहल सन् १९४० में प्रकाशित की गई थी। इसमे श्री सुमित्रानंदन पंत की प्रथम छः रचनाओं अर्थात् 'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' तथा 'युगांत' की चुनी हुई कविताएं संगृहीत की गई थी। सन् १९३९ मे पंतजी की 'युगवाणी' प्रकाशित हुई थी, जिसमे उन्हीं के शब्दो मे उन्होने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया था। यहां गद्य का अर्थ गद्य नहीं था, गद्य प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ था—और कवि को नए प्रतीक बनाने का अधिकार है—पतजी का तात्पर्य था गद्य से—युग की समस्याओं से, युग की उलझनों से, यद्यपि 'युगवाणी' में युग का गद्य ही नहीं है, बहुत कुछ जीवन का पद्य भी है; आप मुझे क्षमा करें, मैं भी पद्य को प्रतीक के समान इस्तेमाल कर रहा हूं और इससे मेरा मतलब है जीवन की सुदरता से, जीवन के रस और रंग से। प्रसिद्ध है, पुरानी आदतें ज़रा मुश्किल से छूटती हैं, फिर भी 'युगवाणी' की रचनाओं के विषय, दृष्टिकोण, अभिव्यंजना और शैली में पहले की रचनाओं से इतना अधिक अतर था कि पारखियों को सहज ही ऐसा आभास हुआ कि इस कृति के साथ पंतजी के काव्य-जीवन का एक नया अध्याय खुल रहा है। इससे पूर्व अपनी रचना का 'युगांत' नाम देकर मानो स्वयं उन्होंने इस बात का सकेत कर दिया था। इतना ही नही, उसके 'दो शब्द' में उन्होंने स्वीकार भी किया था कि 'युगांत' में 'पल्लव' की कोमलकांत पदावली का अभाव है और अब वह एक नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा कर रहे है। संभवतः इन्ही कारणों से इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि उनकी 'युगांत' तक की

रचनाओं से एक ऐसा संकलन उपस्थित किया जाए, जिससे उनके काव्य-जीवन के प्रथम चरण का विकास-क्रम जानने और समझने मे सुविधा हो सके। इस चरण में पंतजी की कल्पना ने जिस भाव-प्रदेश में विचरण किया है, उसकी तुलना यदि पर्वत से करें, तो 'पल्लव' को उसकी सबसे ऊंची चोटी, मैं सबसे रम्य स्थली नहीं कह रहा हूं, मानना होगा। संकलन के 'पल्लविनी' नाम देने में शायद यही धारणा काम कर रही थी।

संकलन स्वयं पंतजी ने किया था, कुछ रचनाओं में ज़रूरत समझकर उन्होंने कुछ काट-छांट भी कर दी थी। रचनाओं का क्रम समयानुसार न रखकर विषयानुसार रखा गया था। संग्रह ने एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति की और काव्य-रसिकों ने उसे बहुत पसद किया। इसका दूसरा संस्करण सन् '४५ में प्रकाशित हुआ। यह प्रथम संस्करण का पुनर्मुद्रण-मात्र था।

तीसरे संस्करण में रचनाएं तो सब वे ही रखी गई है, जो इसके पहले के संस्करणों में थीं, परंतु उनके क्रम मे भारी परिवर्तन कर दिया गया है। पंतजी ने अब यह अनुभव किया है कि जो संग्रह विशेषकर उनके काव्य-जीवन का क्रमिक विकास दिखलाने के उद्देश्य से तैयार किया गया है, उसमें रचनाओं के कालानुक्रम की अवहेलना नहीं की जा सकती। फलस्वरूप 'पल्लविनी' के इस संस्करण में, दो-एक को छोड़कर शेष सब कविताएं रचनाक्रम मे रखी गई है, परंतु समय की सीमा के भीतर भी, रचनाओं के स्थान में थोड़ा-सा उलट-फेर करके पंतजी ने उन्हें इस प्रकार रखा है कि उनमें एक प्रकार का अद्‌भुत सामंजस्य आ गया है। 'पल्लविनी' का यह रूप उसके पिछले रूप से कितना मधुर और निखरा हुआ है, इसे वे ही जान सकेंगे, जो उसके पहले संस्करणो से इसकी तुलना करेंगे। एक वात और हुई है दो-तीन कविताओं की काट-छांट में कुछ ऐसे पद छोड़ दिए गए थे, जो अपनी सरलता और सरसता के कारण मुझे वहुत प्रिय थे। वे प्राय· लोगों की ज़बान पर थे और लेखों तथा आलोचनाओं मे उद्धृत भी किए

जाते थे। मेरी प्रार्थना पर ऐसे कतिपय पदों को इस संस्करण मे स्थान देकर उन्होने मुझे बाधित किया है। मुझे विश्वास है कि ये पद औरो को भी रुचिकर प्रतीत होंगे।

'पल्लविनी' के इस नवीन रूप के साथ प्रकाशक की इच्छा है कि एक भूमिका भी जोड़ दी जाए। पिछले संस्करणों में पंतजी लिखित गिनती की केवल छः पंक्तियों का एक विज्ञापन-मात्र था। उन्होंने यह काम मुझे सौपा है। और इसकी गंभीरता और जिम्मेंदारी के साथ-ही-साथ अपनी अल्पज्ञता और अयोग्यता जानते हुए भी जो मैंने यह कार्य-भार अपने ऊपर ले लिया है, उसका मुख्य कारण केवल यह है कि मुझे पंतजी के बहुत समीप आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और इस प्रकार मुझे उन्हे बहुत निकट से देखने का अवसर मिला है। मै एक लंबे अरसे से उनकी कविताओं से उनके व्यक्तित्व को और उनके जीवन से उनकी रचनाओं को समझने का प्रयत्न करता रहा हूं और एक बात, जो मैं सबसे पहले कह देना चाहता हूं, वह यह है कि जो उनकी कविता है, वही उनका जीवन है और जो उनका जीवन है, वही उनकी कविता है। उनकी कविताओं के विषय में कुछ कहने का मेरा केवल इतना ही अधिकार है कि मैंने उन्हें उनके रचयिता के जीवन के प्रकाश में देखा है। अन्य कवियों के विषय में यह बात लागू है या नहीं, किंतु पंतजी के विषय मे तो यह बात बिलकुल ठीक है कि बिना उनके व्यक्तित्व को समझे उनकी रचनाएं नहीं समझी जा सकती। उनकी रचनाओं के विषय में बहुत-कुछ लिखा गया है; खेद है, उनके जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालनेवाली चीजें नही के बराबर हैं। इस छोटी-सी भूमिका में, जिसे मै एक दृष्टिकोण कहना अधिक पसंद करूंगा, मै इस तरह के किसी प्रयास की बात भी नहीं सोच सकता। फिर भी प्रयत्न करूंगा कि उनके जीवन-मंदिर का एक छोटा-सा वातायन खोल सकूं। इतना भी कर सका, तो अपने को असफल नही समझूंगा।

यह सोचने के पहले कि मै इस भूमिका में क्या लिखू, मैंने इस पर विचार किया है कि मै किनके लिए यह भूमिका लिख रहा हूं। यद्यपि

'पल्लविनी' का संकलन पंतजी की कविता के प्रथम चरण का विकास दिखाने के लिए किया गया है, तथापि उनकी कविता से परिचय कराने के लिए यह बहुत अच्छी पुस्तक सिद्ध होगी और मेरा विश्वास है, प्रायः लोग इसका यही उपयोग करेंगे भी। इसलिए मेरे सामने इस समय वे ही लोग है, जो पंतजी की कविता से प्रथम परिचय करने जा रहे है। पंतजी को समझने में अगर मै उन्हें ठीक दिशा में लगा सका—और इसमे मेरी सीमा भी है, जिसे मै ठीक समझता हूं—तो मेरा ध्येय पूरा हो जाएगा। और लोगों के काम की कुछ बात इसमे मिल जाए, तो मैं अपने को धन्य समझूंगा।

पंतजी के बारे में जो कुछ लिखा अथवा कहा गया है, उस सबका विश्लेषण न तो मेरे लिए सुलभ है और न उपयोगी। परंतु जो कुछ भी उनके विषय में लिखा अथवा कहा गया है, उससे एक प्रकार का वातावरण अवश्य बन गया है और प्रायः पाठक रचनाओं को स्वयं पढ़कर अपनी सम्मति निर्धारित करने के पहले इस वातावरण से कुछ अनोखी धारणाएं लेकर आता है। समालोचना हमारे साहित्य का शायद सबसे कमजोर अंग है। प्रायः जो एक कहता है, दूसरा उसे ले उड़ता है और लोग भी ऐसे सहज-विश्वासी है कि जो कुछ कहा जाता है उसे ही ठीक मान लेते है। सम्मतियों के इस वातावरण में पंतजी के विषय मे कुछ बातें स्वतःसिद्ध और सर्वमान्य हो गई है और मेरी राय में इनमे तथ्य बहुत कम है। मैं अपने इन थोड़े-से शब्दों में इस वातावरण को साफ़ करना चाहता हूं।

आज से लगभग दस बरस पहले, पंतजी की कविता पढ़नेवालों से कम और उनकी रचनाओं को बगैर पढ़े उनके विषय में बात करनेवालों से ज़्यादा, मैं यह बात सुना करता था कि पंतजी छायावादी है और छायावाद पर किसी 'कवि-किंकर' ने यह फतवा दे दिया था कि वह समझ मे आने की चीज नही है और उसके अनुयायियो ने इसका इतना प्रचार किया था कि किसी रचना को छायावादी कह देने का मतलब था कि वह बिलकुल बे-सिर-पैर की है और उस पर और कुछ

कहना ही सभव नहीं—समझ से ज़ो बाहर है ! अस्पष्टता, कठिनता, निरर्थकता, सबका सम्मिलित नाम था छायावाद । इसी अर्थ में मुहावरे की तरह भी इसका प्रयोग मैंने देखा है । अब, जो हिंदी-कविता में कुछ रुचि रखता है और कविता पर अपनी राय देता है, पंतजी की चर्चा चलने पर पहला वाक्य यही कहता है कि वे प्रगतिवादी हो गए है, और प्रगतिवादी प्रगतिवाद से क्या समझते है, यह तो वे ही जानें, साधारण लोगों में प्रगतिवाद का जो अर्थ लिया जाता है, वह यह है कि वह साम्यवादी दल की राजनीति का अनुयायी है, मार्क्सवाद के दार्शनिक सिद्धांतों का पोषक है और साहित्य को प्रचार की मैशीनरी समझता है । और मेरी तुच्छ सम्मति यह है कि न पंतजी को तभी ठीक समझा जा रहा था और न अभी ठीक समझा जा रहा है ।

युग, युग की घटनाओं, युग की विचारधाराओं का जो प्रभाव कला-कृतियों पर पड़ता है, उससे कोई इनकार नहीं कर सकता । परंतु कलाकार का निजी व्यक्तित्व भी एक महत्ता रखता है । सच तो यह है कि अपने व्यक्तित्व मे कुछ विशेष रखने के कारण ही वह कलाकार होता है । फिर युग भी व्यक्ति को प्रभावित करके ही कला पर प्रभाव दिखला सकता है । युग के प्रति किसी विशेष व्यक्तित्व की प्रतिक्रिया क्या होगी, इसका अनुमान कर लेना सहज नहीं है । कला और साहित्य के इतिहास में ऐसी कृतियों की कमी नहीं है, जिन पर युग की स्वीकृत अथवा प्रमुख प्रवृत्तियों का कुछ भी प्रभाव नहीं है । युग साधारण व्यक्तियों को प्रभावित करता है, लेकिन विशेष व्यक्तियों से प्रभावित भी होता है । जहां तक हिंदी-साहित्य और साहित्य से जीवन के लिए प्रेरणा प्राप्त करनेवालों का संबंध है, मैं यह बात निःसंकोच कह सकता हूं कि पतजी केवल ऐसे व्यक्तियों में ही नहीं हैं, जो युग की शक्तिमान प्रवृत्तियों के प्रति निजी प्रतिक्रिया रखते है; बल्कि वे उनमें भी है, जो युग को प्रभावित करते है । जिस युग में पंतजी ने अपनी रचनाएं की है, उसे समालोचकों ने छायावाद का युग कहा है । कुछ आलोचकों ने युग का ऐसा आतंक खड़ा किया है कि हमें यह मानने के

लिए मजबूर होना पड़ता है कि चूकि पंतजी ने छायावाद-काल में लिखा है, इसलिए वे छायावादी है। और चूकि अब कुछ समय से कुछ लोगों ने ढोल बजाकर आधुनिक युग को प्रगतिवादी युग घोषित कर दिया है, इसलिए आज वे जो लिख रहे है, उसमे वे प्रगतिवाद की प्रवृत्तियों अथवा प्रेरणाओं से प्रभावित हैं। छायावाद के प्रचलित अर्थ से मेरे लिए उनकी कविता बहुत दिन पहले से मुक्त हो गई थी। लेकिन वर्षो मैंने इस बात पर अचरज किया है कि छायावाद का एक सांप्रदायिक रूढ़ अर्थ भी देकर पंतजी को लोग छायावादी क्यों कहते हैं। समालोचकगण प्राय: इस सीमित अर्थ में उसे रहस्यवाद कहने लगे है, परंतु साधारण जनता में दोनों शब्द पर्यायवाची है। उनमें मुझे न तो कवीर की ही आवृति मिली, न जायसी की और न रवीद्रनाथ ठाकुर की ही। और आज, जब मैं यह देखता हूं कि उन्हें प्रगतिवादी घोषित करके किस प्रकार एक विशेष विचारधारा के लोग अपने साहित्यिक मोर्चे को मजबूत बना रहे हैं, तो मैं सोचता हूं कि दुनिया में साहित्यिक शोषण भी किस हद तक जा सकता है। मेरी समझ मे तो इस प्रकार का शोषण आर्थिक शोषण से अधिक भयंकर और दुष्परिणामकारी है। खैर, कहने का मतलब यह है कि छायावाद के युग में भी वे पंत थे और प्रगतिवाद के युग में भी वे पंत है। वे छायावादी युग की उपज से अधिक उसके निर्माता रहे हैं और वे जैसे प्रगतिशील हैं, उनको उसी रूप मे स्वीकार करने के लिए प्रगतिवाद को किसी संकुचित दल-विशेष के हाथों की कठपुतली होने से इनकार करना पड़ेगा। पंतजी का अपना छायावाद भी था, अपना प्रगतिवाद भी है और इसका कारण यह है कि उनका अपना व्यक्तित्व है, जो किसी वाद अथवा युग के सांचे मे विठलाया नही जा सकता। पंतजी की कविताओं को ठीक-ठीक समझने के लिए, मेरे विचार से, यह सवसे जरूरी वात है कि उन्हें किसी वाद के अंतर्गत रखकर न देखा जाए। संभव हो सकता है कि समालोचकों को अपने अध्ययन के किसी दरजे पर पहुंचकर उनकी रचनाओं की साम्य-संगति किसी युग-वाद के

साथ बैठानी पड़े। परंतु, ऐसे पाठकों से, जो काव्य के सहज आनंद से आकर्षित होकर उनकी ओर जाते हैं, मैं यह कह देना चाहता हूं कि पंतजी को वे ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे—अगर वे, वादों के फेर में न पड़कर, उन्हें एक ऐसा संवेदन, मनन और चिंतनशील कवि समझे, जो अपने और प्रकृति के, मानव-जीवन और मानव-समाज के, अपने देश, अपने युग और अपनी सस्कृति के तथा इन सबमें परिव्याप्त और इन सबके ऊपर जो सत्ता है, उसके प्रति चिर जागरूक है। अपने इस कथन की व्याख्या आगे चलकर उनकी एक-एक रचना को लेकर मैं करना चाहता हूं। परंतु इसके पहले उनकी भाषा के विषय में जो भ्रांतियां फैली है, उन्हें दूर करना आवश्यक प्रतीत होता है।

जैसाकि मैने ऊपर कहा है, प्राय: लोगों में यह जनश्रुति प्रचलित है कि पंतजी की भाषा कठिन होती है। यह जनश्रुति नहीं तो क्या है कि प्राय:लोगों ने बिना उनकी कविताओं को पढ़े यह मान लिया है कि वे कठिन लिखते हैं और इसी कारण वे उनकी रचनाओं को समझना अपने वश के बाहर की बात समझते है। तमाशा तो यह है कि ऐसे लोगों में कुछ इस तरह के भी लोग हैं, जिन्होंने अपनी तमाम उम्र उर्दू-साहित्य को पढ़ने मे लगाई है और केवल हिंदी वर्णमाला जानने के कारण यह उम्मीद करते हैं कि जो कुछ वे अक्षर और मात्रा जोड़कर पढ़ लेंगे, वह सब उनकी समझ मे आ जाएगा। साहित्य का आनंद लेने के लिए भाषा के ज्ञान की आवश्यकता होती ही है। यह तो प्रारंभिक बात हुई। इसके पश्चात् साहित्य की वृत्ति पहचाननी और उसके साथ संवेदना रखनी पड़ती है। तभी कोई साहित्य अपने रस की गांठ खोलता है। यदि आप हिंदी मे वही सब पाने की आशा करके आते हैं, जो आप उर्दू में पाते रहे है, तो मै आपसे यही कहूंगा, दूसरा दरवाजा देखिए। जो केवल दूसरों से सुनकर पंतजी की भाषा को कठिन मान बैठे है, उनसे मै कहूंगा, वे स्वयं उनकी कविताओं को पढ़ें। उनका आधा भ्रम ऐसा करते ही दूर हो जाएगा। और आधे के लिए हमें अपने साहित्य और समय की वृत्ति पहचाननी पड़ेगी।

पतजो की भाषा की कठिनता के संबंध में मैंने उनसे भी सुना है, जो हिंदी के ज्ञाता है, साहित्यानुरागी हैं और पंतजी की कविता के प्रेमी हैं। पंतजी की भाषा जैसी है, उसके लिए केवल पंतजी ही उत्तरदायी नहीं हैं। यह शिकायत पंतजी के सभी समकालीन कवियों की भाषा के संबंध मे कम-ज्यादा रही है। इसके लिए हिंदी का एक युग ही जवाव-देह है। जान-बूझकर कोई अपनी भाषा को कठिन नही बनाना चाहता। जैसे पंतजी की कविता उनके जीवन का सहज उद्गार है, वैसे ही उनकी भाषा उनके भावों का स्वाभाविक परिधान है। न तो उन्होंने कविता लिखने के लिए कविता लिखी है और न भाषा लिखने के लिए भाषा। मैं तो समझता हूं कि उनको अपनी साहित्यिक परंपरा से जैसी भाषा मिली थी, उसका उन्होंने सबसे अच्छा उपयोग किया है। इतना ही नहीं, उसकी उपयोगिता को उन्होंने कई गुना बढ़ा भी दिया है।

भारतेंदु की मृत्यु सन् १८८५ में हुई थी; उनके लिए गद्य की भाषा खड़ी वोली और पद्य की ब्रज भाषा थी। पर भारतेंदु ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए यह असंभव था कि उनका ध्यान इस विपर्यय की ओर न जाए। अपने जीवन के अंतिम दिनों में उनके दिमाग मे यह बात तो आई थी कि हिंदी गद्य और पद्य की भाषा एक ही होनी चाहिए, पर जब उन्होंने इसे कार्यरूप में परिणत करना चाहा, तो साहित्यिक परंपरा के अभाव में ब्रज भाषा में अति सरस छंदों की रचना करनेवाले और उर्दू में भी 'रसा' के तखल्लुस से अच्छे-खासे शेर कहनेवाले भारतेंदुजी, गिनती की तुकबंदियां, पहेलियां, मुकरिया और 'चूरन का लटका' भर लिखकर रह गए थे। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से जिन लेखकों ने गद्य और पद्य की भापा एक वनाने का प्रयत्न किया था, उन्होंने पद्य को केवल गद्यमय कर दिया, कविता तो शायद ही किसीने लिखी हो। इसी भाषा को पंतजी को काव्यमय वनाने का काम करना पडा। उन्होंने १९२१ मे 'उच्छ्वास' ऐसी कविता उपस्थित कर दी। इतना कवित्व इसके पूर्व कभी खड़ी वोली के साचे मे नही ढला था। और उसकी भापा के सबध मे पडित शिवाधार पाण्डेय ने फरवरी,

१९२२ की 'सरस्वती' में 'पावस ऋतु थी···' आदि पंक्तियों को उद्धृत करके लिखा था, '···भूधर राट् के इस वर्णन में अक्षर-अक्षर अपने स्थान में अनिमेष खड़ा हुआ है—टस-से-मस नही हो सकता।' पंतजी के विषय में उन्होंने लिखा था, '···भाषा को वह भाव से बजाता है। संगीत को उंगलियों पर नचाता है। शब्दों को सूंघ-सूंघकर मनमाना मधु चूसता है।' फिर भी जो पद्य में गद्य ही देखने के अभ्यासी थे, उनके लिए काव्य की चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजना और लाक्षणिकता ने भाषा के अतिरिक्त एक-दूसरी कठिनता सामने रख दी। पढ़नेवालों ने सारा दोष भाषा के ही माथे मढ़ दिया। उन्होंने समझा, सारा दोष संस्कृतमयी पदावली का है।

पर अब देखना यह है कि खड़ी बोली के लिए सूरत क्या थी। ब्रज भाषा और अवधी की तरफ़ से वह मुह मोड़ चुकी थी। खड़ी बोली का जन्म उर्दू को देवनागरी अक्षरों मे लिखने के लिए नहीं हुआ था। उर्दू से अगर हमारे देश की संस्कृति अभिव्यक्ति पा सकती, तो हिंदी का पुनरुत्थान ही न होता। उर्दू एक ओर हाली की जबान पर चढ़कर उस साम्प्रदायिकता की ओर जा रही थी, जिसकी चरम सीमा इक़बाल में पहुंची और दूसरी ओर वह फ़ारसी-साहित्य की पुरानी परंपरा से आए हुए मकतल, मैखाना, आशिक, माशूक का पहाड़ा पढ़ रही थी। जिस समय भारतेंदु यह लिख रहे थे कि 'भाषा भई उर्दू जग की' उस समय भी उसकी व्यापकता की अवहेलना करके जो हिंदी उठी उसका एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कारण था। कहने का मतलब यह है कि खड़ी बोली उर्दू की ओर भी नहीं झुक सकती थी। ऐसी परिस्थिति में सिवा संस्कृत की ओर जाने के दूसरा चारा नहीं था। प्रयोग बंगला में हो चुका था। माइकेल मधुसूदन दत्त और रवि बाबू बंगला को संस्कृत से अनुप्राणित करके उसे शत-शत भाव विचारों की वाहिनी सिद्ध कर चुके थे। शरच्चंद्र ऐसे उपन्यासकार तक इस विचार के थे कि रवि बाबू ने संस्कृत की भरमार करके बंगला को चौपट कर दिया है। बगला के अध्ययन से भी जो खड़ी बोली के कवियों ने लिया वह संस्कृत

की ही देन थी। खड़ी बोली संस्कृत पर निर्भर होने के लिए विवश थी और सचमुच पंतजी की विवशता खड़ी बोली की विवशता थी। इस विवशता को भी जो उन्होंने सुदरता का रूप दिया, यह उनकी कलात्मकता थी, उन्होंने कोष खोलकर संस्कृत-शब्दों को उधार नही लिया। पांडेयजी के शब्दों मे उन्होंने संस्कृत के विस्मृत शब्दों को भावों से ठोंक-बजाकर लिया है। सुरुचि से सूंघ-सूंघकर लिया है । कम-से-कम 'युगांत' तक संस्कृत शब्दों को लेने में उन्होंने बड़ी कलाप्रियता दिखलाई है। ज्यादा उदाहरण देने का स्थान नहीं है। 'युगांत' से ही दे रहा हूं। पंक्ति है— 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र'। 'द्रुत' में जैसे पत्ता टूटकर गिरना ही चाहता है। इसी प्रकार पंक्ति है—'गा कोकिल बरसा पावक कण'। 'पावक में दोनों 'क' के लड़ने से ऐसा लगता है, जैसे आग अपने-आप फूटकर भभकने ही वाली है। 'जल्दी' और 'चिनगारी' शब्द से यह प्रभाव उत्पन्न करना असंभव है। 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' में आए संस्कृत शब्दों को लीजिए, उनके स्थान पर दूसरा शब्द रखकर देखिए, पंक्ति का जादू गायब हो जाएगा। यों तो पंतजी के समकालीन कवियों ने संस्कृत पदावली का अनुसरण किया है, फिर भी पंतजी ने उन्हें चुनने मे जितनी कलामय सतर्कता बरती है, उतनी किसी अन्य ने नही। कही उसने रूप उपस्थित किया है, तो कहीं उसकी ध्वनि से पंक्ति संगीतमय हो गई है और कही उसने परंपरा से संबद्ध भावों के तारों को झनझना दिया है। खड़ी बोली की व्यंजना-सामर्थ्य बढाने की कम-से-कम यह एक दिशा तो थी ही और स पर पंतजी इसे काफी दूर तक ले गए है।

पंतजी की कुछ व्यक्तिगत परिस्थितियों को भी नहीं भूलना चाहिए। वे 'पहाड़ी कवि' है और उनकी मातृभाषा पहाड़ी है। आज भी उन्हें इस बात को कहने मे संकोच नही है कि हिंदी मेरी मातृभाषा नही है, गोकि प्रत्येक पहाड़ी की शिक्षा हिंदी से ही प्रारभ होती है। हमारे नगरों मे उर्दू का प्रचार कई कारणों से बहुत रहा है, परन्तु पहाड़ी भाषा अब भी उर्दू के प्रभाव से मुक्त है। उसमे प्राय संस्कृत के शब्द ही रूप बदलकर मौजूद है और आवश्यकता पड़ने पर वह उर्दू के बजाय

संस्कृत की ही ओर झुकती है। दूसरे पंतजी ने संस्कृत साहित्य का अध्ययन लड़कपन से ही किया है और उसके सौदर्य पर मुग्ध हैं। बगला भी उन्होंने काफी पढ़ी है और यद्यपि उसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता है, उन्होंने उससे केवल इतना सीखा है कि बंगला किस प्रकार संस्कृत के शब्दों को पचाकर अपने अंदर शक्ति, रूप-रंग भर लेती है। उर्दू से वे अनभिज्ञ है, पर इसमें संदेह है कि वे उससे अभिज्ञ होकर भी उसके प्रवाह मे बह सकते। कारण, हिंदी की सामयिक वृत्ति ही दूसरी ओर थी और कितने ही लेखक उर्दू से पूर्ण परिचित होकर भी उससे हिंदी को अछूता रख रहे थे। शायद हिंदी के व्यक्तित्व की स्थापना के काल में यही प्रवृत्ति अधिक उपयुक्त और लाभदायक थी। भाषा का सबंध केवल ऊपरी नही होता। हिंदी के कवि जो कहना चाहते थे, शायद वह किसी और शब्दावली से कहा ही नहीं जा सकता था।

अत मे एक बात मै कहना चाहूंगा। पतजी की कठिनता शब्दों की कठिनता नही है। और अगर हो भी, तो उसका हल सरल है। उनकी कठिनता है उनकी नवीन अभिव्यजना की, नवीन विचार-धारा की, नवीन चितन-दर्शन की। उनकी अभिव्यंजना का सौदर्य पिछली पीढ़ी के लोगों ने नही देखा था, पर आज हम सब देख रहे है। पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी नही देख सके थे, पडित रामचन्द्र शुक्ल ने देखा है। हिंदी के व्यंजना-विकास और पतजी के मानसिक विकास में होड़-सी लगी है, वे इतनी जल्दी आगे बढ़ रहे है कि भाषा उनका साथ नहीं दे पाती है। उनकी 'युगवाणी' लोगों की समझ में, नही आ रही है इसलिए नही, कि उसके शब्द कठिन है, बल्कि इसलिए कि हिंदी-पाठक उनकी विचार-धारा से बिलकुल अपरिचित है। मुझे भय है कि आगे की रचनाओं मे भाषा उनके चितन-दर्शन का साथ नही दे सकेगी। उनकी आगामी रचनाओं 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' का शब्दार्थ जानकर भी बहुत सभव है उनकी चितन-धारा लोगो के लिए अगम्य ही सिद्ध हो। हिंदी को जन्मते ही, विश्व के नवजागरण मे भारत की

आत्मा को, जो युगों से रूढ़ियों के दुर्दम तम मे गड़ी हुई थी, व्यक्त और मुखरित करने का उत्तरदायित्वपूर्ण भार उठाना पड़ रहा है। उसके कंधे अभी कमजोर है, परंतु वह पीछे नही हटेगी और अपने ध्येय के अनुरूप अपने को सुगठित करेगी। पंतजी की वाणी जहां दुरूह और कठिन है, वहां भी वह यही स्वस्थ आश्वासन देती-सी प्रतीत होती है। पंतजी की कविता मे मानो स्वयं हिंदी इस प्रयास मे है कि वह जग और जीवन की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और गभीर-से-गंभीर अनुभूतियों और विचारों को अपने पखों पर लेकर सहज ही उड़ सके। 'वाणी' को संबोधित करके उन्होने 'ग्राम्या' की एक कविता में कहा है :

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,
ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार,
तुम खोल सको मानव उर के नि:शब्द द्वार,
वाणी मेरी···

मैने ऊपर लिखा है कि पंतजी ने न तो कविता लिखने के लिए कविता लिखी है और न भाषा लिखने के लिए भाषा। आप एक बार उनकी भावना अथवा विचार-धारा से सहानुभूति स्थापित कर लें, फिर आप देखेंगे कि भाषा आपके रास्ते में कोई रुकावट नही उपस्थित करती। जिस प्रकार उनकी कविता का आनद-रस उनके शब्दो के ऊपर होकर छलका करता है—मैने अक्सर उनके पाठको से यह सुना है कि जहां कही उनकी कविता समझ मे नही भी आती, उसको पढने अथवा सुनने मे एक प्रकार का आनद जरूर आता है—उसी प्रकार उनकी विचार-धारा, उनके आदर्शो और उनके स्वप्नो को समझ लेने पर अर्थ अपने-आप ही उनकी पक्तियों के ऊपर छलकता-सा प्रतीत होगा। अब उनक रचनाओं की चर्चा करके मैं उनके इसी भाव-जगत की ओर थोड़ा-सा सकेत करना चाहता हूं।

पतजी जन्मजात कवि है। उन्हे देखकर अक्सर मैंने अपने से पूछा है कि यदि वे कवि न होते, तो और क्या हो सकते थे और हमेशा मेरे

मन ने यही कहा है कि वे कवि छोड़कर कुछ और नहीं हो सकते थे। अपने समय और परिवार के वातावरण से प्रेरणा पाकर उन्होंने लड़कपन से ही कविता लिखनी आरभ कर दी थी। १६१८ से उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह समय-समय पर संग्रह रूप में प्रकाशित होता रहा है। उनके कहानी-संग्रह को छोड़ दें, और उनके रूपक 'ज्योत्स्ना' को भावना-प्रधान मान लें, तो अब तक उनकी कविताओं की आठ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है। 'वीणा' में सन् १६१८-१६ की रचनाएं है। 'ग्रंथि' गीति-पूर्ण खंडकाव्य है और यह १६२० में लिखी गई थी। 'पल्लव' एक प्रकार का सकलन था और उसमे सन् १६१८ से १६२५ तक की प्रत्येक वर्ष की दो-दो तीन-तीन कृतिया रख दी गई थी, यद्यपि संख्या में तीन चौथाई और आकार में इससे कहीं अधिक कविताएं १६२० के पश्चात् की थी। इसी प्रकार 'गुंजन' में १६१६ से १६३२ तक की रचनाएं थी, गोकि ज्यादातर चीजें १६२५ के बाद की थी। 'ज्योत्स्ना' यों तो कहने को नाटक है, पर उसके अनेक मधुर गीतों के कारण हम उसे काव्य-संग्रह ही मान लेते है। इसके गीतों को मै पंतजी के सर्वोत्तम गीतों में मानता हूं, परंतु साथ ही मेरी यह भी राय है कि इनको इनके वातावरण से अलग कर देने पर—जैसाकि इस संग्रह में किया गया है—इनका आधा सौदर्य नष्ट हो जाता है। इसकी रचना सन् १६३३ में हुई थी। 'युगांत' मे सन् १६३५-३६ की रचनाएं हैं। 'युगवाणी' मे सन् १६३६ से १६३६ तक की, और 'ग्राम्या' में १६३६-४० में लिखी हुई कविताए संगृहीत की गई है। इनके अतिरिक्त पंतजी की दो और रचनाए तैयार है। ये है 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि'। ये दोनों १६४६-४७ की कृतियां है। 'स्वर्ण किरण' शीघ्र प्रकाशित होनेवाली है। इसे मैंने प्रूफ से पढ़ लिया है और 'स्वर्ण धूलि' को मै पांडुलिपि में पढ़ चुका हूं। यह भी शीघ्र ही प्रेस मे दी जा रही है।

पंतजी की रचना उनके जीवन-विकास की प्रतिच्छाया है और उनका जीवन-विकास, जैसाकि प्राय: सभी विकासवान व्यक्तियों का

होता है, इतना क्रमबद्ध है कि यह कहना कठिन है कि इस स्थान से अमुक प्रवृत्ति समाप्त होती है और अमुक आरंभ होती है। उनकी अंतिम रचनाओं में भी कोई ऐसी बात नही है, जो बीज रूप से उनकी पहली रचना मे मौजूद न हो, और उनकी पहली रचना मे जो प्रवृत्तियां काम कर रही थीं, उनके चिह्न उनकी अंतिम रचनाओं में भी—चाहे कितने ही सूक्ष्म रूप मे क्यों न हों—पाए जा सकते है। जिस तरह यह जानते हुए भी कि न एक दिन मे मनुष्य बालक से युवा होता है और न युवा से प्रौढ़, हम जीवन-अवधि को बाल्यावस्था, युवावस्था आदि में बांटकर उसके विकास को व्यक्त करते है, उसी प्रकार पतजी की रचनाओं की प्रगति दिखलाने के लिए हम उन्हें तीन चरणो मे विभक्त कर सकते है। कविताओं के विषय को थोड़ी देर के लिए मन से हटाकर अगर केवल उनकी शैली पर ध्यान दे, तो पहला चरण 'वीणा' से आरंभ होकर 'युगांत' पर समाप्त होता है। दूसरे चरण में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' आएंगी और तीसरे में 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि'। मैंने ऊपर लिखा है कि पतजी संवेदन, मनन और चिंतनशील कवि है। अपने काव्य-जीवन के प्रथम काल में वे प्रधानतया संवेदनशील कवि है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे वे मननशील हो गए है। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में मुख्यतया वह चिंतन-दर्शन के कवि है। इसको दूसरे शब्दों मे हम यों कह सकते है कि 'वीणा' से 'युगात' तक वे प्रधानतया भावनाओं के, 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे बुद्धि अथवा विचारों के, तथा अंतिम दो रचनाओं में आत्म-दर्शन के कवि है। संवेदनशील होना कवि का प्रथम गुण है, और यह सवेदनशीलता उनके मनन और चिंतन-काल में भी उनका साथ नही छोड़ती, यद्यपि तुलनात्मक दृष्टि से मनन-काल में चिंतन-दर्शन काल की अपेक्षा इसका स्थान अधिक नीचे और इस काल की रचनाओं मे 'युगवाणी' मे इसका स्थान मुझे सबसे नीचे प्रतीत होता है।

'आधुनिक कवि' की भूमिका मे पतजी ने स्वयं लिखा है कि मैं कल्पना के सत्य को (जो केवल कवि-सुलभ सवेदनशीलता से प्राप्त

किया जा सकता है) सबसे बड़ा सत्य मानता हू और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूं। आगे चलकर उन्होंने कहा है कि 'वीणा' से लेकर 'ग्राम्या' तक, अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है। आधुनिक समय के कुशल कलाकार के समान उन्होंने अपनी कल्पना को अपने अध्ययन, विचार एवं चितन से अधिक स्वस्थ और पुष्ट बनाने का प्रयत्न भी किया है। मुझे कहना केवल इतना है कि इस प्रयास में, एक समय पर, वे अपनी कल्पना के केंद्र से किसी अश में च्युत या विलग हो गए है और तब उनकी रचनाओं पर उनके अध्ययन अथवा विचार का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है। इस प्रसंग को बढ़ाना, कम-से-कम 'पल्लविनी' के पाठकों का ध्यान रखते हुए, अप्रासंगिक है, क्योंकि 'पल्लविनी' की कविताएं जहां तक हमें ले जाती है, वहां तक कल्पना के सत्य की ही प्रधानता है, हृदय की सवेदनशीलता ही का स्वर सर्वोपरि है।

शैली से विषयों की ओर आने के पहले मै उस बात को एक बार फिर दुहरा देना चाहता हूं, जिसे मै ऊपर कह आया हूं कि पंतजी अपने और प्रकृति के, मानव-जीवन और मानव-समाज के, अपने युग, अपने देश और अपनी सस्कृति तथा इन सबमें परिव्याप्त और इन सबसे परे जो शक्ति है उसके प्रति चिर जागरूक हैं।

'वीणा' मे—और इससे मेरा तात्पर्य उन तमाम रचनाओं से है, जो 'वीणा'-काल में लिखी गई है और 'पल्लव' तथा 'गुजन' में भी पाई जाती है—पंतजी अपने और प्रकृति के प्रति सजग है। यहां कवि ने प्रकृति को विस्मय-भरी आंखों से देखा है—वह उसके सौदर्य पर मुग्ध है, उसकी पावनता से अभिभूत। वह उसके सौदर्य को चित्रित करना चाहता है, उसकी पावनता से अपने को निर्मल बनाना चाहता है। वह प्रकृति के साथ इतना रम गया है कि उसे बालाओं की आनन-छवि और उनके काले कुटिल कुतलों में कोई आकर्षण नहीं दिखाई देता। उसे बालाओं के बाल-जाल से द्रुमों की छाया अधिक अच्छी लगती है, उनके भ्रूभंगों से इंद्रधनुष के रंगों में अधिक कटाक्ष दिखाई देता है, उनके

प्रिय स्वर से कोयल के बोल अधिक कोमल लगते है और उनके अधरामृत से किसलय दल पर सुधारश्मि से उतरा हुआ जल अधिक मीठा मालूम होता है। यह वह अवस्था है, जब कवि सोचता है कि प्रकृति ही सब-कुछ है और वह जो कुछ भी पाना चाहता है, वह सब उसको उसी की गोद में मिल जाएगा।

'ग्रंथि' मे कवि ने अपनी रागात्मिका प्रवृत्ति को जगाया है। उसके प्रथम दो अध्यायों का कथानक उसके अंतिम दो अध्यायों के हृदयोद्रेकों के लिए अवसर-भर प्रदान करता है। मुख्य वस्तु है वे उद्‌गार, जिनमे कवि ने अपने हृदय की कसक निकाली है।

'पल्लव' में भी कवि प्रधानतया प्रकृति का कवि है, परंतु अब वह प्रकृति को उन आंखों से देखता है, जो प्रेम के आंसुओं से धुल चुकी हैं। अब हर जगह प्रकृति के सौंदर्य पर कवि की भावनाओं की छाया-सी पड़ गई है और इससे उसका रूप ही बदल गया है। कहीं कवि की भावनाए प्रकृति में मूर्तिमान हो जाती है, कही प्रकृति कवि के हृदय में पैठ उसकी भावनाओं को व्यक्त करती है। इसके उत्कृष्ट उदाहरण 'उच्छ्‌वास, और 'आँसू' में देखने को मिलेगे :

इस तरह मेरे चितेरे-हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी।

...

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन
मानस-सा उमड़ा अपार मन।

साथ ही उसका रागी मन, जिसने एक दिन प्रकृति के सामने नारी की अवहेलना को थी, गा उठता है :

तुम्हारे रोम रोम से नारि !
मुझे है स्नेह-अपार;

परतु पंतजी ने अपने को इस रागात्मिकता की धारा मे बहने नही दिया। एक ओर तो उन्हे भोले बालापन की अबोध पावनता ने खींचा है, जिसमे उन्होने कहा है :

मेरे यौवन के प्याले में
फिर वह बालापन भर दो।

और दूसरी ओर प्रकृति-दर्शन (naturalistic philosophy) के अध्ययन ने उनके मन पर यह बिठा दिया है कि विश्व का सारा सौंदर्य नश्वर है और इसलिए वह कोई ऐसी चीज नहीं, जिससे अपने को भुलाया जाए। जैसे वसत के पीछे पतझड़ छिपा है, उसी तरह हर सुदर शरीर के अदर कंकाल :

अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल;
कचों के चिकने, काले व्याल
केचुली, काँस, सिवार;

हृदय की रागात्मिका प्रवृत्ति को दबाना सरल नहीं है। अनेक ओर से संयमित और नियन्त्रित करने पर भी वह 'गुजन' के कई गीतों में फूट निकली है, जैसे 'भावी पत्नी के प्रति', 'डोलने लगी मधुर मधु वात' या 'रूप तारा तुम पूर्ण प्रकाम' में। सभवतः यही प्रवृत्ति थी, जिसने पंतजी से 'बांध दिए क्यों प्राण', 'शरद चांदनी', 'बज पायल छम-छम-छम' आदि गीत लिखाए, जिनकी चर्चा मैने अपने 'हलाहल' के कृति-परिचय मे की थी। मेरा विश्वास है कि पतजी में यह प्रवृत्ति आज भी सजीव है और संभव है उनके किन्ही सुकुमार क्षणों में (अपने लिए मै 'दुर्बल' लिखता) ऐसे ही और गीतों की बौछार करा दे।

'गुजन' मे पतजी प्रकृति और प्रेम के कवि के साथ-ही-साथ आत्म-साधना और मानव-जीवन के कवि के रूप में भी उपस्थित होते हैं। आत्म-साधना पंतजी के लिए नया विषय नही है। इसके बीज 'वीणा' की उन कविताओं मे मिलेगे, जहां उन्होंने प्रकृति की सुदरता और पावनता से स्वयं सुदर और पुनीत बनने की कामना प्रकट की है। 'गुंजन' की आत्म-साधना मे अधिक दृढता है, अधिक संघर्ष है, अधिक तप है। अब वे अपने मन को तपाकर अकलुष, उज्ज्वल और कोमल बनाना चाहते है—केवल मधुर और मोहन होना ही पर्याप्त नही

समझते । अधरों पर मधुर अधर धरकर जीवन मृदु स्वर मे कहता है—वस एक मधुर इच्छा पर त्रिभुवन का धन-यौवन सब अर्पित है, परंतु उसी क्षण कवि का मन सचेत होकर कह पड़ता है—ना, मुझे इष्ट है साधन !

अपने से वाहर जाकर मानव-जीवन को देखने और समझने की इच्छा 'गुजन' मे नई चीज है :

देखूं सब के उर की डाली
किसने रे क्या-क्या चुने फूल
जग के छवि उपवन से अकूल ?
इसमें कलि, किसलय, कुसुम, शूल !

कई कविताओं मे उन्होने मानव के सुख, दुख, इच्छा, साधना, मुक्ति, वधन आदि को भी समझने का प्रयत्न किया है । इन कविताओं मे जैसे 'परिवर्तन' द्वारा लाये और छाये गए, घनांधकार को दूर करने के लिए छोटे-छोटे दीपक-से जलाये गये है, जो दार्शनिक ज्ञान की ज्योति से जगमगा रहे है ।

'पल्लव' मे प्रकृति जहा कवि की भावनाओ से अनुरजित हो गई थी, 'गुजन' मे वह दार्शनिक विचारों की प्रतीक वन गई है । आत्मा-भिव्यक्ति आत्मसाधना मे बदल गई है, 'पल्लव' की नारी 'अप्सरा' मे निखरकर (sublimate होकर) जैसे अधर मे अतर्धान हो गई है और उसका स्थान निर्देह मानवता ने ले लिया है । प्रकृति, जग और जीवन मे जो कुछ है उसका रहस्य समझकर ही कवि अपने कार्य की इतिश्री कर वैठा है ।

'ज्योत्स्ना' कवि पत के काव्य-पथ पर एक नया और महत्त्वपूर्ण कदम है । इसमे हम पहली वार पंतजी को भावी के स्वप्नद्रष्टा के रूप में देखते हैं । 'ज्योत्स्ना' मे कवि ने मानव-समाज का नया स्वप्न देखा है । मुझे फिर लिखना पड़ता है कि 'ज्योत्स्ना' के गीतों को अलग से देखने पर उसका महत्त्व विलकुल गायव हो जाता है । यह पश्चिम के जड़वाद के शरीर मे पूर्व के अध्यात्मवाद की आत्मा को स्थापित करके

एक ऐसी विश्व-संस्कृति को जन्म देने का स्वप्न है जिसमें

सर्वदेश, सर्वकाल,
धर्म, जाति, वर्णजाल,
हिलमिल सब हों विशाल
एक हृदय, अगणित स्वर।

'युगांत' में जैसे कवि को यह आभास हुआ है कि नए के निर्माण के लिए पुराने को नष्ट-भ्रष्ट करना जरूरी होगा। यहां पर पंत का कोमल कवि परुष और पौरुषपूर्ण हो गया है। ये पंक्तिया स्वयं बोलती है :

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र

...

गा कोकिल बरसा पावक-कण

...

बढ़ो अभय विश्वास चरण धर

...

गर्जन कर मानव केशरि

यहीं से पंत की संवेदनशीलता का आवेग घट जाता है। इसके बाद ही शैली में परिवर्तन हो जाता है। भावनाओं का स्थान विचार ले लेते है। 'युगवाणी' को काव्य की दृष्टि से मै मौलिक रचना नहीं मानता। 'ज्योत्स्ना' में जो काव्यात्मक ढंग से कहा गया था, उसी का विश्लेषण करके 'युगवाणी' में रखा गया है।

'ग्राम्या' में जैसे कवि ने उन्ही विचारों के प्रकाश में गांवो की परीक्षा ली है। प्राय. उसे असतोष ही हुआ है, पर जहां कही यह असंतोष असह्य हुआ है, वहा भविष्य के सुदर स्वप्नों का निर्माण हो गया है और इस दृष्टि से 'युगवाणी' की अपेक्षा 'ग्राम्या' में संवेदनशीलता और कवित्व अधिक मात्रा मे मिलेगे। इन दोनों रचनाओ में यद्यपि पिछली प्रवृत्तियों के चिह्न भी मिलते है, कवि विशेषकर अपने युग और देश के प्रति जागरूक है।

'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' मे कवि को अपनी संस्कृति के

प्रति विशेष आस्था हो गई है। वह समझता है कि विश्व का कल्याण भारतीय संस्कृति द्वारा ही होना है। ईश्वर पर चिर विश्वास उसे पहले भी था। ईश्वर अब उसके विश्वास की वस्तु नही, अनुभव की सत्ता है। इन दोनों रचनाओं मे यद्यपि चितन-दर्शन ही प्रधान है, फिर भी संवेदनशीलता का वड़ा स्निग्ध प्रभाव हमे सव जगह दिखाई पड़ता है। अब वह प्रथम काल की चित्रमय कल्पना और मधुमय ध्वनियों को तो नही जन्म देती, परतु उनकी सरसता का आभास हमें हर स्थान पर मिलता है।

सक्षेप मे यह है पतजी की विचारधारा, उनका आदर्श और उनका स्वप्न अथवा एक शब्द मे उनका भाव-जगत या अंतर्जग। इस अतर्जग का निर्माण किन वस्तुओं के द्वारा और कैसे हुआ है, इसे समझने का प्रयत्न करना उनके जीवन और व्यक्तित्व के अदर झाकना है। और यहां मेरे अध्ययन की अपेक्षा मेरा सौभाग्य ही अधिक सहायक है—और वह है पंतजी की निकटता। उनसे मैंने जो सुना या जाना है और उनमें जो मैंने देखा और पाया है, उसने मुझे उनकी रचनाओं को देखने का एक विशेप दृष्टिकोण प्रदान किया है। यही दृष्टिकोण अब मैं आपके सामने रखना चाहता हूं। मुझे आशा तो करनी ही चाहिए कि यहा से आप उन्हे और उनकी रचनाओं को अगर ज्यादा अच्छी तरह से नही, तो कम-से-कम एक नई तरह से तो जरूर देख सकेंगे।

पंतजी के भाव-जगत के निर्माण मे सवसे पहला और सवसे महत्त्व-पूर्ण स्थान उनकी जन्मभूमि का है। वर्ड्सवर्थ ने लिखा है कि मेरे जन्म-स्थान को निश्चित करने मे भी मेरा सौभाग्य काम कर रहा था :

Fair seed-time had my soul, and I grew up
Foster'd alike by beauty and by fear,
Much favour'd in my birth place, (Prelude Book 1)

[मेरी आत्मा को अकुरित होने का वहुत अनुकूल समय मिला, मैं प्रकृति के सुदर और भयकर रूप से प्रतिपालित होता हुआ वढा, मैं अपने जन्मस्थान मे ही सौभाग्यवान था।]

पंतजी भी शायद यही कहते, हां, Fostered alike by beauty and by fear की जगह वे ज़रूर यह परिवर्तन कर देते Fostered alike by beauty and by piety। बजाय यह कहने के कि मै प्रकृति की सुदरता और भयकरता से प्रतिपालित हुआ बढ़ा, वे कहते मै प्रकृति की सुदरता और पवित्रता से प्रतिपालित हुआ बढ़ा। मगर क्यों ?

पंतजी का जन्म कौसानी मे हुआ था। कौसानी के प्राकृतिक सौदर्य का वर्णन करते हुए पंतजी नही थकते, परंतु हर बार जब-जब कौसानी की चर्चा छिड़ी है, पतजी ने कौसानी की पावनता और निर्मलता का भी वर्णन अवश्य किया है। मुझे कविवर नरेंद्र की 'कौसानी' शीर्षक कविता स्मरण हो आई। कौसानी के सौदर्य के इन दोनों पक्षों को उन्होंने देखा है—एक ओर तो कौसानी में ऐसा जादू भरा है कि वह कूर्माचल की पटरानी लगती है और दूसरी ओर—

यह तपोभूमि कौसानी है
तप की जीवित जाग्रत महिमा,
है कौसानी मे मूर्तिमान
तप-निरत साधनामयी उमा!

एक ओर जहां कौसानी अपने सौदर्य से अप्सरा-सी लगती है, वहां दूसरी ओर अपनी पावनता से तपस्विनी-सी। तभी तो एक ओर जहां उसने कवीद्र रवीद्र को इतना मोहित किया कि उन्होंने उसी की छाया में अपने शातिनिकेतन की शाखा आरोपित करने की इच्छा प्रकट की, वहां दूसरी ओर उसने महात्मा गाधी को अनासक्ति-योग नाम से गीता का भाष्य करने की भी प्रेरणा दी। ऐसी है वह राग-विरागमयी कौसानी, जिसने पंतजी को बचपन में धाय की तरह पाला है, और उसने अपने इन्ही दो परस्पर विरोधी गुणों से पंतजी को समलंकृत कर उन्हे काव्य और जीवन के मार्ग पर छोड़ दिया है।

Child is the father of man.

पंतजी के जीवन मे कौसानी सजीव हुई है, पतजी की कविता मे कौसानी मुखरित। पंतजी का हृदय राग और विराग का भरा हुआ

प्याला है। पंतजी का जीवन राग और विराग का संघर्ष है। पतजी की कविता मे यही राग और विराग चिर-स्नेहालिगन देकर वधे हुए है। इन्हीं राग और विराग की लहरों पर पतजी का तन, मन, प्राण सदा लहराता रहा है। पंतजी की पक्ति-पक्ति मे, कविता-कविता में, रचना-रचना मे इसी राग और विराग की लय (rhythm) मौजूद है; और यही लय मौजूद है उनके जीवन की हर घड़ी में, हर अवस्था में, हर दशा मे। मुझे इसी राग-विराग की लय, इसी के संयोग, इसी के सघर्ष और इसी के संतुलन मे पंतजी के जीवन और काव्य की कुजी मिली है।

राग ने जहा उन्हे रूप-रंग-रस के संसार की ओर खीचकर कवि वनाया है, वही विराग ने इससे दूर खीचकर सत भी वनाया है। शायद यह वात कम ही लोगों मालूम है कि पतजी का घर का नाम 'सै' है, जिसके अर्थ पहाड़ी में है साई अथवा सत। कौसानी होकर वदरिका-श्रम जाते हुए साधुओं के प्रभाव में आकर एक वार लड़कपन मे उन्हे घरबार छोड़ साधु बनने का विचार आया भी था। वह तो पूरा नहीं होने दिया गया, परतु घरवालों ने इनकी जिस प्रवृत्ति को देखकर इनका नाम 'सै' रखा था, उसके बीज इनमें वहुत दृढता से जड जमा चुके थे। पंतजी ने रगे गेरुए वसन तो नही धारण किए, पर आज भी वह अदर से सत ही है। यहा जोगी ने कपड़े न रगाकर मन को ही रंगा लिया है। वैरागी के वस्त्रो से तो उन्होंने अपने को वचा लिया, पर उसकी जटा आज भी उनके रागी मन से समझौता-सा करके उनके घने, लहरे रेशम के बालो मे उनके सिर पर मौजूद है। कवि पंत के पीछे एक दिव्य संत, और सत पत के पीछे एक सरस कवि वैठा हुआ है। इसी संयोग ने उनकी सरसता को उच्छृङ्खल और उनकी साधना को शुष्क होने मे वचा लिया है।

उनकी प्रारभिक रचनाओ मे कितनी ही ऐसी पक्तिया है, जो सतवृत्ति पत के मुख से निकली मालूम पड़ती है। एक समय उन्हे पढ़-कर मुझे आश्चर्य हुआ था कि यह अठारह वर्ष का युवक ऐसी वातें किस तरह कहता है :

माया सागर में डूबों का
सोख-सोख रति रस हर दूं—

...

जग की मोह तृषा को छल,
सूखे मरु से मा ! शिक्षा का
स्रोत छिपा सम्मुख धर दूँ—

...

यह जग का सुख जग को दे-दे
अपने को क्या सुख, क्या दुख ?

इन पक्तियों में माया को डुबानेवाला सागर समझनेवाला, मोह को मरु मे भटकानेवाली तृषा माननेवाला और दुख और सुख से इस भांति निर्लिप्त पंत का संत ही बोल रहा हैं। पंतजी को प्रायः सौदर्योपासक कवि कहा गया है, पर उनके सत ने सौदर्य को तब तक स्वीकार नही किया, जब तक वह पावन भी न हो। कवि की रुचि पर सदा संत के संयम का अनुशासन लगा रहा हैं। वे जहां 'उज्ज्वल तन' देखते है, वहा 'उज्ज्वल मन' भी देखते है। कृष्णा को फेनोज्ज्वल वस्त्र इसी लिए दिए गए है कि वह 'शुद्ध' और 'स्वच्छ' रहे। शिशु के अधरों पर जो गीत हैं, वह 'मधुर' ही नही 'पुनीत' भी है। जब वह 'आओ सुदर' कहते है तो 'आओ शिव' भी कहते हैं। प्रेयसी के लिए उनका प्रेम 'पावन गंगास्नान' है। त्रिभुवन की श्री भी प्रेयसी के 'पावन स्थान' को नही भर सकती। नारी का सौदर्य सकल ऐश्वर्यो की खान हो, पर उन्हें अभिमान उसकी 'पावनता' का ही है। करुणावान अनंग से वे विश्वकामिनी की 'पावन छवि' दिखलाने की ही प्रार्थना करते है। वे शुभ्र निर्झर के साथ उसका नाद भी 'निर्मल' पाते है। गुलाब के हृदय मे उन्हें 'दिव्य विकास' दिखाई देता है। वे अपने जीवन के प्रतिपल को 'सुदर', 'सुखकर' ही नही चाहते, 'शुचितर' भी चाहते है। हिमाद्रि ने जो उन्हे शैशव में आशीर्वाद दिया था, वह भी 'पावन' था। उसके शिखरों की शीतल ज्वाला मे गलकर उनकी चेतना 'निर्मल'

बनी थी और उन्होंने अपनी काव्य-कल्पना को 'उज्ज्वल' किरीट पहनाना चाहा था।

रागी मन पर विरागी चेतना के नियंत्रण का परिणाम यह भी हुआ है कि सुदरता पर कभी वे पूरी तरह से निछावर नही हो सके, बलिहार नही गए, लहालोट नही हुए। जब इच्छाओं ने उन्हे माधुर्य की ओर खीचा है, तव साधना ने उन्हे आदर्शो से वाध दिया है। राग और विराग के इसी संघर्ष ने जीवन के अनुभवों से भी उन्हें दूर-दूर रखा है। वे अनुभवों की गहराई में नही पैठ सके, उससे भीग नही सके, उसकी तीव्रता अथवा दग्धता को मुखरित नही कर सके। जव उनके रागी मन ने अनुभवों की ओर उन्हें निमत्रित किया है, तो उनकी विरागी चेतना ने जैसे उसे बहलाने के लिए उसके आगे कल्पना के कुछ खिलौने फेंक दिए है। पतजी के कवि-मन ने बस उसी से रीझ-खेलकर अपने को संतुष्ट कर लिया है। और इस प्रकार उनकी विरागी चेतना को उन्हें वास्तविकता की मलिनता से अछूता रखने की सफलता मिली है। साथ ही रागी मन भी विल्कुल उपेक्षित नही रह गया, उसे अपने को तृप्त करने का भी कुछ साधन मिल ही गया है। मेरे एक साहित्यानुरागी मित्र का विश्वास था कि पंतजी की कतिपय रचनाओ के पीछे कोई सच्ची घटना अवश्य है। अवसर पाकर जव मैंने उनसे पूछा तो उत्तर मिला . "कल्पना है। कवि होने के नाते मैंने वहुत दिनों से अपनी अनुभूति मे कल्पना को सम्मिलित कर रखा है, पर उसका स्थानापन्न नही माना।" कल्पना के सत्य का, अनुभव के सत्य से जो निकट संबंध है उससे भी मै अनजान नही हू, फिर भी दोनो के गायकों मे मुझे विभेद करना होगा, तो मै यही कहूगा कि पंतजी कल्पना के गायक है, अनुभूति के नही—इच्छा के गायक है, वासना, तीव्रतम इच्छा के नही।

हम पतजी के अतर्जग को वनानेवाले तत्त्वो का निरूपण कर रहे थे। प्रथम तत्त्व तो उनकी जन्मभूमि है, जिसने उनके हृदय को राग-विराग का क्रीडा अथवा कलह—यह भी एक प्रकार की क्रीड़ा ही है—क्षेत्र वना दिया। दूसरा स्थान उनके अध्ययन का है। ऐसी परिस्थिति

में जब उन्होंने अनुभव की पुस्तक नहीं खोली अथवा उसके कुछ पन्ने ही उलट-फेरकर छोड़ दी है, उनके अध्ययन की महत्ता बढ़ जाती है। यहा भी उनकी रागी और विरागी मनोवृत्ति उनका निर्देश करती हुई दिखलाई देती है। एक ओर तो वे पढते हैं मेघदूत और शकुतला और दूसरी और उपनिषद ओर गीता, एक ओर रीतिकालीन कवियों की रचनाएं—'पल्लव' की भूमिका में इस अध्ययन की कितनी प्रतिध्वनियां है—और दूसरी ओर स्वामी रामतीर्थ और विवेकानद का वेदांत-दर्शन। एक ओर कीट्स और टेनिसन की मंजुल रचनाएं और दूसरी ओर ह्यूम और कांट की गूढ विवेचनाए। एक ओर रवीद्र कवीद्र की सरस कृतिया और दूसरी ओर योगीश्वर अरविद की ज्ञान-गवेषणाए। यह कोई घटनात्मक बात नही है कि अब तक पंतजी की शातिनिकेतन और श्री अरविद आश्रम के बीच कितनी ही यात्राएं हो चुकी है। अभी कल की ही बात है कि पतजी का मन घड़ी के पेंडुलम की भाति मद्रास-स्थित उदयशंकर के कला-केंद्र और पाडीचेरी के साधना-मदिर के बीच डोल रहा था। इस कवि और विवेचक, रसिक और विचारक का सबसे स्पष्ट प्रतीक पतजी का 'गुजन' है। इसमे ऐसी भी कविताएं है, जो कवि के हृदय से उतरी है और ऐसी भी है, जो विचारक के मस्तिष्क से उपजी है। ऐसी भी रचनाएं है, जिनको कवि ने आरंभ किया है और दार्शनिक ने समाप्त किया है; ऐसी भी रचनाएँ है जिनको दार्शनिक ने आरंभ किया है और कवि ने समाप्त कियाहै—क्रम से 'बन-बन-उपवन', 'क्या मेरी आत्मा का चिर धन', 'नौका विहार', 'मैं नहीं चाहता चिर-सुख' देखे। ऐसी भी कविताएं है, जिनमे पतजी के रागी ने विराग के विरुद्ध बिलकुल विद्रोही होकर गीत गाया है:

अधर-उर से उर-अधर समान,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान।
प्रिये प्राणों की प्राण!

और ऐसी भी रचनाएं है, जिनमें उनके विरागी ने रागी को एक-

दम कुचल दिया है और उसे जब जीवन की चंचल सरिता से मोती-वाली मछली निमन्त्रित करती है, तो वह सीधा-सूखा यह भीरु उत्तर-भर दे सकता है :

पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली।

कवि अभी राग-विराग के झूले मे झूल ही रहा था कि नियति ने उसे कालाकाकर में लाकर रख दिया। कालाकाकर के निवास का भी पंतजी के जीवन-विकास में बड़ा स्थान है। यहां उन्होने राजभवन का वैभव देखा और उसी के विपरीत झोंपड़ियो का दैन्य भी। गाव उन्हे नरक के समान लगे, ग्राम का निवासी उन्हे युग-युग से अभिशापित दिखाई दिया। उनका मन क्षोभ और ग्लानि से भर गया। ग्राम उन्हे देश का प्रतीक लगा, देश मानवता का। अपने दुख-सुख, हर्ष-शोक से वे ऊपर उठ ही चुके थे, उन्होने मानवता के भविष्य का स्वप्न देखना आरभ किया। परिणाम 'ज्योत्स्ना' थी। यहा कवि और दार्शनिक का जो सरस सतुलन देखने को मिलता है, वह एक अभूतपूर्व वस्तु है। विचारक ने जैसे रेखाएं खीची है और कलाकार ने उनमे रग भरा है। रागी ने भौतिकता को स्वीकार करके बाहर का ससार सजा दिया है। विरागी ने इसी विश्व-प्रसाद मे अध्यात्म का प्रकाश कर दिया है। पंतजी के राग और विराग के सधि, सतुलन और समन्वय की इससे बढकर पक्तियां और कहा मिलेगी :

मत हो विरक्त जीवन से,
अनुरक्त न हो जीवन पर।

उनका कवि उनसे जीवन से विरक्त होने को मना करता है, उनका सत उन्हे जीवन पर अनुरक्त होने की आज्ञा नही देता। फिर भी इन पक्तियो मे ऐसा लगता है कि हम ये दोनो काम साथ ही कर सकते है। पतजी की यह पहली रचना है, जिसमे उनके चित्त की परस्पर विरोधी वृत्तियो ने सहयोग करके एक सुदर-शिव मार्ग की खोज की है। निरालाजी ने कुछ समझकर इसकी विज्ञापिका मे लिखा था,

"ज्योत्स्ना मे उनका (पंतजी का) पहला, प्रिय, भावमय, श्वेत वाणी का कोमल कवि-रूप दृष्टिगोचर होता है।" राग और विराग, काव्य और दर्शन, भावना और बुद्धि, भौतिकता और आध्यात्मिकता एक-दूसरे के गले में बांहें डाले हुए मानव स्वप्नों के जिस ऊंचे शिखर तक पहुच सकती थीं, 'ज्योत्स्ना' ने उसे छू लिया है। इस संतुलन को प्राप्त करने के लिए पंतजी को जो संघर्ष करना पड़ा था, 'गुजन' उसी का साक्षी है।

पतजी का राग पक्ष तो सदा से सकारात्मक और सहज साध्य रहा है, परंतु विराग पक्ष को अनुशासित, दीक्षित और सुसंस्कृत करने के लिए उन्होंने अनवरत साधना की है। जो एक सिरे पर नकारात्मक और पलायन प्रेरक था—जैसाकि हमारे आधुनिक साधुओं के जीवन में आज भी दृष्टिगोचर हो सकता है—जिसने, जैसाकि मैं पहले बतला चुका हूं, एक बार उन्हें अपने निम्न पथ की ओर खींचा भी था—वही उनके तप के आधार से ऊचे उठकर चितक, विचारक, दार्शनिक, द्रष्टा और जग मंगलाभिलाषी के रूप में परिणत हो गया है। हमारी स्वस्थ परंपरा का संत भी जग से भागा नही—उसने जग-मंगल की कामना ही की है।

मेरी धारणा है कि 'ज्योत्स्ना' के पश्चात रागी का पक्ष दबता और विरागी का उभरता आया है। 'युगांत' में, जिसमें पंतजी ने स्वयं कोमल कात पदावली का अभाव देखा था और वहां से नवीन क्षेत्र अपनाने की चेष्टा आरंभ की थी, मेरे दृष्टिकोण के अनुसार चितक और कहीं-कहीं आवेशपूर्ण सुधारक के रूप में उनका विराग ही जोर पकड़ रहा है। 'युगवाणी' में वही विचारक हो गया है। 'ग्राम्या' में रागी फिर ऊपर उभरा है। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' मे रागी पीछे चला गया है और विरागी फिर दार्शनिक और द्रष्टा के रूप मे आगे बढ़ा है। 'स्वर्ण किरण' में अभी कल ही 'द्वासुपर्णा' शीर्षक कविता पढ़ता हुआ मैं सहसा रुक गया। उपनिषद के प्रसिद्ध मंत्र के आधार पर यह कविता लिखी गई है। विश्व वृक्ष पर दो पक्षी है—एक तो उसके फल का स्वाद

लेता है और दूसरा उस पर केवल अंतर्लोचन होकर स्थित है। एक इनमें से जीव है दूसरा ब्रह्म, एक भोक्ता, एक द्रष्टा। पतजी इसी चिरंतन सत्य को मानव जीवन मे उतारना चाहते है—वे पूछते हैं कि क्या मनुष्य अपने में ही संग-संग दोनों पक्षियों के गुण को लेकर नही चल सकता, जो जीवन-वृक्ष पर नीड़ वनाकर उसके फल भी खाए और निश्चल देखता भी रहे ! और वे इन पंक्तियो में अपना विश्वास प्रकट करते हैं :

ऐसा पक्षी, जिसमें हो संपूर्ण संतुलन
मानव बन सकता है, निर्मित कर तरु जीवन।

पंतजी का जीवन और काव्य स्वयं इसका प्रयोग है, इसकी साधना है। उनके हृदय-नीड़ मे राग और विराग के दो पक्षी सदा से बैठे रहे है। इन्ही दोनो के गुणों में संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न उनके जीवन और उनके काव्य का इतिहास है। इतिहास लंबा है—एक से दूसरे की मुठभेड़ भी हुई है, एक ने दूसरे पर अधिकार भी किया है, एक-दूसरे के साथ कांधे-से-कांधा मिलाकर चले भी है; और भी अनेक अवस्थाएं रही है, जिन्हे मै आपकी कल्पना पर छोड़ देता हू। यह निर्णय देना मेरा काम नही है कि उनके काव्य और जीवन मे यह संतुलन आ चुका या नहीं। पर इतना मै जानता हूं कि ये दोनों आज भी उनमें सजीव और प्रवल हैं। मुहलगा तो मै उनका हूं ही; अक्सर मैने उनसे कहा है, "साई दा, एक दिन आप साधु हो जाएंगे।" उनका रागी, उनका भोक्ता, उनका कवि इस वात को सुनकर कांप उठा है, "मै इस रूप-रंग के संसार को, इस नव-नव भावों से उछ्वसित जीवन को छोड़ कहां जा सकता हूं ?" उनके मुंह से फूट पड़ा है। कभी मैंने उनसे कहा है, "पंतजी, आपने विवाह क्यों नही किया, घर क्यो नही वसाया ?" और मैं उनके आगे अपनी कवि-मुखरता मे सुखी गृहस्थ-जीवन का एक नक्शा खीच गया हूं। मेरे शव्दजाल के वागुर विपम को तुड़ाकर उनका मन मृग, उनका विरागी, उनका दार्शनिक, उनका संत दूर खड़ा हो गया है, वे बोल उठे है, "आज के समाज-गमार मे

यह बंधन है, बंधन !" और मैंने कहा है, उनकी ही पंक्ति को उद्धृत करते हुए, "तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन।" उनका कवि मुसकराकर चुप हो गया है।

सारांश में, इसी राग-विराग की क्रिया-प्रतिक्रिया उनका जीवन है और जो उनका जीवन है वही उनकी कविता है। जो उनका जीवन है, वही उनका दर्शन है। जहां उनके जीवन की समस्या का हल है, वही संसार की समस्या का हल है, कम-से-कम उनके अनुसार। अब आपको अधिकार है कि आप छायावाद, रहस्यवाद, मार्क्सवाद, साम्यवाद, प्रगतिवाद आदि-आदि को लेकर देख लें कि आप उन्हें अथवा उनकी रचनाओं को किस-किसके अंतर्गत रख सकते हैं। मेरे लिए तो उन्होंने केवल अपने अंतर के द्वंद्व, दहन और प्रकाश को बाहर बिखेर दिया है—इसीको बाबा तुलसीदास स्वांत.सुखाय कहते। आप विचार करके देखेंगे, तो पाएंगे कि जिसकी खोज उन्होंने अपने हृदय के अंदर की है, उसी की खोज भारतीय संस्कृति सदा से करती रही है। अपनी इस खोज में वे आत्मस्थ (individual) भी है और विश्वस्थ (universal) भी; चिर पुरातन भी हैं, चिर नवीन भी। वे अपनी इस साधना में परंपरा की शक्ति भी लिये है, प्रयोग का उल्लास भी; प्रयोग की उत्सुकता भी और परंपरा का विश्वास भी।

पंतजी की कला पर केवल उनकी भाषा के संबंध में लिखते हुए मैंने संकेत भर किया है। विस्तार से यहां भी नहीं कहना चाहता। जैसे उनकी रागी और विरागी वृत्तियों ने उनका विकास कलाकार और तत्ववेत्ता में किया है, उसी प्रकार उनके कलाकार की भी दो प्रकार की अभिव्यंजनाएं है—एक के पीछे उन घाटियों का संस्कार है, जिनमें पत्रों का मर्मर संगीत है, पुष्पों का रस-राग-पराग है, कोकिल का मादक गान है, नववय के अलियों का गुंजन है, चित्र-विचित्र तितलियां उड़ती हैं, मुकुलों के उर में मदिर वास है, मलय समीर सौरभ से अस्थिर है और जहां झरनों का टलमल-टलमल निनाद है। दूसरी के पीछे उन पर्वतों का संस्कार है, जो भीमकाय ठोस चट्टानों से बने हुए है, जो अपनी

शांति और नीरवता में समाधिस्थ-से लगते है, जिनके ऊपर वात, वर्षा, विद्युत का कुछ भी प्रभाव नही पड़ता, जो स्वर्गाभिमुख होकर युगो से खड़े हुए है और जिनके शीश पर प्रकृति ने हिम का उज्ज्वल मुकुट पहना रखा है। जब उनमे राग तत्त्व प्रधान होता है, तब वे अपनी भावना को चांदनी मे नहलाकर सुजात शिल्पी के समान नव-नव वस्त्राभूषणों से सजा देते है; जब उनमे विराग तत्त्व प्रधान होता है, तब वे अपने विचारों के स्वस्थ शरीर को मल-दल धूप में खडा कर देते है और कहते है—तुम तो अपने-आप ही सुदर हो, यथा :

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।

पंतजी के विचार में जिस प्रकार आदर्श सस्कृति में, भौतिकता और आध्यात्मिकता का सम्मिलन होगा, आदर्श मानव में आसक्ति और विरक्ति का संतुलन होगा, उसी प्रकार उनके आदर्श कलाकार मे कवि और दार्शनिक परस्पर सहयोगी होंगे और उनकी आदर्श कविता में भावना और विचार का—शृंगार और शक्ति का समन्वय होगा। किस जगह, कितनी, कैसी, और कैसे इस प्रयास में उन्हे सफलता अथवा असफलता प्राप्त हुई है, यह काम मै सहृदय और सजग पाठकों पर छोड़ता हूं—मैने सहृदय और सजग—दो शव्द जान-बूझकर लिखे हैं, क्योंकि पतजी का आदर्श पाठक भी वही हो सकता है, जिसका हृदय और मस्तिष्क दोनों विकसित हों—जो स्वप्न की तरलता में वह सके और सत्य के ठोसपन से टक्कर भी ले सके। अंग्रेजी कवि शेली ने कहा था, "मेरी पत्नी वह स्त्री हो सकती है, जो कविता मे डूब सके और दर्शन मे पारंगत हो सके (who can feel poetry and understand philosophy)।" अपने आदर्श पाठक मे पंतजी भी यही प्रत्याशा रखते है।

कवि से पाठक बड़ी-बडी प्रत्याशाए करता है—सत्य दो, स्वप्न दो, अनुभूति दो, कल्पना दो, सगीत दो, शृंगार दो और न जाने क्या-क्या दो। सबकी सीमाएं है और कवि की भी। देखना पड़ेगा कि कौन

कितना दे सकता है और कितना देता है। कवित्व का वैभव वरदान भी है और संधान भी। पतजी को जो मिला है और जिसकी उन्होंने खोज की है, वह सब उन्होंने काव्य को दान कर दिया है। उनकी कविता उनका आत्मदान है।

महाकवि मिल्टन ने लिखा है कि जो व्यक्ति उच्च विषयों पर सफलतापूर्वक लिखने की आकांक्षा रखता है, उसे चाहिए कि वह स्वयं एक परिपूर्ण कविता बने। इसी प्रकार पंतजी ने अपनी 'ज्योत्स्ना' मे कुमार से कहलाया है, "सच्चा कवि वह है, जो अपने सृजन-प्रेम से अपना निर्माण कर सकता है। अपने को जीवन के सत्य और सौंदर्य की प्रतिमा बना लेता है। कवि का सबसे बड़ा काव्य स्वयं कवि है।" और उन्होने जो लिखा है उसके उदाहरण वे खुद है। पंतजी का जीवन स्वयं एक कविता है। और उनकी कविता है उनके जीवन की परछाई। कवि से जो सबसे बड़ी चीज मांगी जा सकती है, वह है—उसकी सच्चाई और ईमानदारी। इसके अतिरिक्त वह कुछ और दे सकने के लिए बिलकुल असमर्थ है। पंतजी की लेखनी से जो कुछ स्रवित हुआ है, वह बहुत पहले उनके अंतर को भिगो चुका है; उनके कठ से जो मुखरित हुआ है, वह बहुत पहले उनके श्वास-प्रश्वास मे स्पंदित हो चुका है और जो भाव-विचार-कल्पनाएं उनके शब्द-छंदों में मूर्तिमान हुई है, वे वही है—केवल वही हैं, जो चिर काल तक उनके मन-प्राण का मंथन करती रही है। उनकी कविता केवल उनकी आत्माभिव्यक्ति नहीं, मैं फिर कहूंगा, उनका आत्मदान है।

जिस कवि ने अपने-आपको ही अपनी कविता में रख दिया है, उसे अपने पाठकों से भी कुछ प्रत्याशा करने का अधिकार है। उनके व्यक्तित्व की एक झांकी देने का प्रयत्न करके संभवत: मैंने इसका संकेत कर दिया है कि वह प्रत्याशा क्या हो सकती है। मैंने शुरू में ही कहा था कि उनके व्यक्तित्व को समझे बिना उनकी कविता नहीं समझी जा सकती। यों तो अंग्रेजी मे कहा जाता है, a Milton is required to understand a Milton अर्थात् मिल्टन ही मिल्टन को समझ सकता

है। पर यह कहकर मैं आपको निरुत्साहित नही करना चाहता, यद्यपि उसके सत्य को मैं पूर्ण रूप से मानता हू। आप इतना भी बहुत करेंगे यदि आप अपने हृदय और मस्तिष्क की भावप्रवणता और विवेकशक्ति को उन्हें अध्ययन करते समय सजग और सचेत रखें। जिसके लिए कवि अथवा लेखक ने साधना की है, उसका आनद लेने के लिए पाठक को भी साधना करनी पड़ती है। कविता से सहज ही आनंद प्राप्त करने की मांग बढ़ती जा रही है—बस, कविता तो ऐसी हो कि तीर की तरह दिल पर चोट करे। यह अस्वस्थ प्रवृत्ति है। पतजी की कविता साधना मांगती है। मुझे अग्रेजी के प्रसिद्ध आधुनिक समालोचक और अध्यापक एच० डब्ल्यू० गैराड का एक कथन याद आता है। वे कहते है .

"We ask of poetry, and quite properly, pleasure; but poetry—quite properly also—asks of us pains"

हम कविता से, यह उचित ही है, आनंद मांगते हैं, लेकिन कविता, और यह भी ठीक ही है, हमसे साधना चाहती है।

सौभाग्य की बात है कि पंतजी की कविता जिस विकसित हृदय और मस्तिष्क की माग पाठक से करती है, उसके निर्माण में स्वय सहायता भी पहुंचाती है।

अग्रेजी विभाग,
विश्वविद्यालय, प्रयाग। बच्चन
कृष्ण जन्माष्टमी, '४७।

चतुर्थ संस्करण

'पल्लविनी' के इस चतुर्थ सस्करण मे कुछ परिवर्द्धन किया गया है, बहुत-सी कविताओं का समावेश भी कर दिया गया है।

—प्रकाशक

सूची

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

पल्लविनी

विनय

मा ! मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय हार हो,
अश्रुकणों का यह उपहार ;
मेरे सफल श्रमों का सार
तेरे मस्तक का हो उज्वल
श्रमजलमय मुक्तालंकार !

मेरे भूरि दुखों का भार
तेरी उर इच्छा का फल हो,
तेरी आशा का शृंगार ;
मेरे रति, कृति, व्रत, आचार
मा ! तेरी निर्भयता हों नित
तेरे पूजन के उपचार—
यही विनय है बारंबार !

जनवरी, १९१८]

अभिलाषा

मेरे मानस का आवेश,
तेरी करुणा का उन्मेष,
भीरु घनों सा गरज गरज कर
इसको विखर न जाने दे!
निज चरणों में पिघल पिघल कर
स्नेह अश्रु बरसाने दे!

भव्य भक्ति का भावन मेल,
तेरा मेरा मजुल खेल,
सघन हृदय मे विद्युत सा जल
इसे न मा! बुझ जाने दे!
मलिन मोह की मेघ निशा मे
दिव्य विभा फैलाने दे!

विश्व प्रेम का रुचिकर राग,
पर सेवा करने की आग,
इसको संध्या की लाली सी
मा! न मद पड़ जाने दे!
द्वेष द्रोह को साध्य जलद मा
इसकी छटा बढाने दे!

[१९१८]

आकांक्षा

तुहिन बिंदु बनकर सुंदर,
कुमुद किरण से सहज उतर,
मा! तेरे प्रिय पद पद्मों मे
अर्पण जीवन को कर दूँ—
इस ऊषा की लाली मे!

तरल तरंगों में मिलकर,
उछल उछल कर, हिल हिल कर,
मा! तेरे दो श्रवण पुटो मे
निज क्रीड़ा कलरव भर दूँ—
उमर अधखिली बालो मे!

रजत रेत बन, कर झलमल,
तेरे जल से हो निर्मल,
माया सागर मे डूबों का
सोख सोख रति रस हर दूँ—
ओप भरी दोपहरी में!

बन मरीचिका सी चंचल,
जग की मोह तृषा को छल,

सूखे मरु मे मा! शिक्षा का
स्रोत छिपा सम्मुख वर दूं—
यौवन मद की लहरी मे!

विटप डाल मे बना सदन,
पहन गेरुवे रँगे वसन,
विहग बालिका बन, इन वन को
तेरे गीतो से भर दूं—
सध्या के उस शात समय!

कुमुद कला बन कल हासिनि,
अमृत प्रकाशिनि, नभ वासिनि,
तेरी आभा को पाकर मा!
जग का तिमिर त्रास हर दूं—
नीरव रजनी में निर्भय!

अंतर

बढ़ा और भी तो अंतर!
जिनको तूने सुखद सुरभि दी,
मा! जिनको छवि दी सुंदर,
मैं उनके ढिग गई व्यग्र हो,
तुझे ढूँढने को सत्वर!

मधु बाला बन मैंने उनके
गाए गीत, गूँज मृदुतर,
पर मैं अपने साथ तुझे भी
भूल गई मोहित होकर!

१६१८]

काला वादल

काला तो यह बादल है!
कुमुद कला है जहाँ किलकती
वह नभ जैसा निर्मल है,
मै वैसी ही उज्वल हूँ मा!
काला तो यह वादल है!

मेरा मानस तो शशि हासिनि!
तेरी क्रीड़ा का स्थल है,
तेरे मेरे अंतर में मा!
काला तो यह वादल है!

तेरी किरणों से ही उतरा
मोती सा शुचि हिमजल है,
मा! इसको भी छू दे कर से
काला जो यह वादल है!

तव तू देखेगी मेरा मन
कितना निर्मल, निश्छल है,
जव दृग जल वन वह जावेगा
काला जो यह वादल है!

१६१८]

कृष्णा

"मा ! काले रँग का दुकूल नव
मुझको बनवा दो सुंदर,
जिसमें सब कुछ छिप जाता है,
रहती नहीं धूलि की डर,
जिसमें चिह्न नहीं पड़ते, जो
नहीं दीखता है श्रीहीन,
लोग नही तो हँसी करेंगे
देख मुझे मैली औ' दीन !"

"अरी, अभी तू बच्ची ही है
कृष्णे ! निरी अबोध, चपल,
मैं मलमल की साड़ी तुझको
बनवाऊँगी फेनोज्वल;
दिखलाई दे जिसमें सबको
तेरे छोटे से भी अंक,
बार बार सहमे तू जिससे
रहे शुद्ध औ' स्वच्छ, सशंक !"

१९१८]

आशंका

"मा ! अलमोड़े में आए थे
जब राजर्षि विवेकानद ,
तब मग में मखमल बिछवाया ,
दीपावलि की विपुल अमंद ;
बिना पाँवड़े पथ में क्या वे
जननि ! नहीं चल सकते है ?
दीपावलि क्यों की ? क्या वे मा!
मद दृष्टि कुछ रखते है ? "

"कृष्णे ! स्वामी जी तो दुर्गम
मग मे चलते है निर्भय ,
दिव्य दृष्टि है, कितने ही पथ
पार कर चुके कटकमय ;
वह मखमल तो भक्ति भाव थे
फैले जनता के मन के ,
स्वामी जी तो प्रभावान है ,
वे प्रदीप थे पूजन के ! "

१९१८]

निवेदन

यह चरित्र, मा ! जो तूने है
चित्रित किया नयन सम्मुख,
गा न सकी यदि मै इसको तो
मुझको इसमे भी है सुख !
वह बेला जो बतलाई थी
तूने अरुणोदय के पूर्व,
पा न सकी यदि उसमें तुझको
मैं तब भी हूँगी न विमुख !

वे मोती जो दिखलाये थे
तूने ऊषा के वन में
उन्हें लोग यदि ले लेंगे तो
मलिन न होगा मेरा मुख !
तू कितनी प्यारी है मुझको
जननि, कौन जाने इसको,
यह जग का सुख जग को दे दे,
अपने को क्या सुख, क्या दुख ?

१९१८]

मोह

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल जाल मे कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभी से इस जग को !

तज कर तरल तरंगों को,
इंद्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रू भंगों से कैसे बिधवा दूँ निज मृग सा मन ?
भूल अभी से इस जग को !

कोयल का वह कोमल बोल,
मधुकर की वीणा अनमोल,
कह, तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भर लूँ सजनि ! श्रवण ?
भूल अभी से इस जग को !

ऊषा सस्मित किसलय दल,
सुधारश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला लूँ जीवन ?
भूल अभी से इस जग को !

१९१८]

कृषकबाला

उस सीधे जीवन का श्रम
हेम हास से शोभित है नव
पके धान की डाली में,—

कटनी के घूंघुर रुन झुन
(बज बज कर मृदु गाते गुन,)
केवल श्रांता के साथी हैं
इस ऊषा की लाली में!

मा! अपने जन का पूजन
ग्रहण करो 'पत्रं पुष्पम्',
सरल नाल सा सीधा जीवन
स्वर्ण मंजरी से भूषित,
बाली से शृंगार तुम्हारा
करता है वय बाली में!

सास ननद भय, भूख अजय,
श्राति, अलस औ' श्रम अतिशय,
तथा काँस के नव गहनों से
अर्चन करता है सादर—
आश्विन सुषमाशाली मे!

१६१८]

अंधकार के प्रति

अब न अगोचर रहो सुजान !
निशानाथ के प्रियवर सहचर !
अंधकार, स्वप्नों के यान !
किसके पद की छाया हो तुम ?
किसका करते हो अभिमान ?
तुम अदृश्य हो, दृग अगम्य हो ,
किसे छिपाये हो छविमान !
मेरे स्वागत भरे हृदय मे
प्रियतम ! आओ, पाओ स्थान !

जब तुम मुझे गभीर गोद मे
लेते हो हे करुणावान !
मेरी छाया भी तब मेरा
पा सकती है नहीं प्रमाण !

प्रथम रश्मि का स्पर्शन कर नित ,
स्वर्ण वस्त्र करके परिधान ,
तुम आश्वासन देते हो, प्रिय !
जग को उज्वल और महान !

जब प्रदीप के सम्मुख मैं भी
गई जलाने निज अज्ञान,
तब तुम उसके चरणों मे थे
पाए हुए सुखद सम्मान,
अपने काले पट में मेरा
प्रिय! लपेटकर मत्सर, मान,
रंगरहित होकर छिप रहना
मुझको भी बतला दो प्राण!

१६१८]

छाया

कौन कौन तुम परिहृत वसना,
म्लान मना, भू पतिता सी?
धूलि धूसरित, मुक्त कुंतला,
किसके चरणों की दासी?
अहा! अभागिन हो तुम मुझसी
सजनि! ध्यान में अब आया,
तुम इस तरुवर की छाया हो,
मैं उनके पद की छाया!

विजन निशा में सहज गले तुम
लगती हो फिर तरुवर के,
आनंदित होती हो सखि? नित
उसकी पद सेवा करके!
और हाय! मैं रोती फिरती
रहती हूँ निशि दिन वन वन,
नहीं सुनाई देती फिर भी
वह वंशी ध्वनि मन मोहन!

सजनि! सदा श्रम हरती हो तुम
पथिकों का, शीतल करके,
मुझ पथिकिनि को भी आश्रय दो,
मनस्ताप मेरा हरके!

१९१८]

आवाहन

नव वसंत ऋतु मे आओ,
नव कलियों को विकसाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
तरुण ऊषा की अरुण अधखुली
आँखों से मत बिंधवाओ,
मानिनि, मजुल मलयानिल से
यों विरोध मत बढ़वाओ !

इन नयनों को समझाओ,
इन्हें न लड़ना सिखलाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
कमल कली मे इन्हे डालकर
हाय ! न यों ही ढुलकाओ,
अज्ञाता की केश राशि मे
इन्हें न कस कस बँधवाओ !

आओ, कोकिल बन आओ,
ऋतुपति का गौरव गाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !

अधरामृत से इन निर्जीवित
शब्दों में जीवन लाओ,
आँखों ने जो देखा, कर को
उसे खींचना सिखलाओ!

१९१८]

सहज ज्ञान

जब मैं थी अज्ञात प्रभात—
मा! तब मैं तेरी इच्छा थी,
तेरे मानस की जलजात!

तब तो यह भारी अतर
एक मेल मे मिला हुआ था,
एक ज्योति बनकर सुदर,
तू उमग थी, मै उत्पात!

अब तेरी छाया सुखमय
अधकार मे नीरवता बन
मा! उपजाती है विस्मय!

× × ×

उठ रे, उद्यत हो अज्ञात!
स्तब्ध हुआ है सब ससार,
इस नीरवता से तू कर ले
अपने साधन का शृगार,

यह सुहाग की है प्रिय रात!

यह दीपक अपने सम्मुख धर,
जिससे पीछे गिरे मोह की
छाया, अतर हो गोचर;
वह भविष्य होवे अवदात!

१९१९]

उपालंभ

मिले तुम राकापति मे आज
पहने मेरे दृगजल का हार;
बना हूँ मै चकोर इस बार,
बहाता हूँ अविरल जलधार,
नही फिर भी तो आती लाज…
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

हुआ था जब सध्या आलोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर,
विहग रव बनकर मै चितचोर !
गा रहा था गुण किंतु कठोर !
रहे तुम नही वहाँ भी, शोक !…
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

याद है क्या न प्रात की बात ?
खिले थे जब तुम बनकर फूल,
भ्रमर बन, प्राण ! लगाने धूल
पास आया मैं, चुपके शूल
चुभाए तुमने मेरे गात…
निठुर ! यह भी कैसा अभिनान ?

कहाते थे जब तुम ऋतुराज
बना था मै भी वृक्ष करील,
रात दिन दृष्टि द्वार उन्मील
बुलाया तुम्हे, (यही क्या शील !)
न आए पास, सजा नव साज···
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

अभी मै बना रहा हूँ गीत
अश्रु से एक एक लिख घात
किया करते हो जो दिन रात,
बुझाते हो प्रदीप, बन वात,
प्राणप्रिय ! होकर तुम विपरीत···
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

१६१६]

किरण के प्रति

इस अबोध की अधकारमय
करुण कुटी पर करुणा कर
अये रध्र-मग-गामी ! स्वागत,
आओ, मुसका उज्वलतर !

रजत तार-से हे शुचि रुचिमय !
हे सूची-से कृशतर अग !
इस अधीर की लघु-कुटीर का
तिमिर चीर कर, कर दो भग !

हे करुणाकर के करुणा-कर
तुम अदृश्य बन आते हो,
रज कण को छू बना रजत कण,
प्रचुर प्रभा प्रकटाते हो !

अरुण अधखुली आँखे मलकर
जब तुम उठते हो छबिमय !
रग रहित को रजित करते,
बना हिमालय हेमालय !

तुम बहुरंगी होने पर भी
सदा शुभ्र रहते हो नाथ!
मुझको भी इस शुभ्र ज्योति में
मज्जित कर लो अपने साथ!

हे सुवर्णमय! तुम मानस मे
कमल खिलाते हो सुदर,
मेरे मानस मे भी उसके
विकसा दो पद पद्म अमर!

और नही तो, अपना ही सा
मुझको भी सीधा जीवन
हे सीधे-मग-गामी! दे दो,
दिव्य अप्रकट गुण पावन!

१९१८]

आत्मदान

निज अचल मे धर सादर,
वासंती ने यह नव कलिका
जो तुझको दी है उपहार,
हेम हासमय सुखद प्रात को
किया जगत का जो शृंगार ;

मा ! इस नव कलिका का तन,
कोमलता से कोमलतम,
इस निकुंज के काँटों से क्या
बिध न जायगा अति असहाय?
प्रखर दोपहर में दिनकर कर
सहन कर सकेगा क्या हाय !

क्या हिम का अकरुण आघात
सह लेगा इसका मृदु गात ?
यही निबल कलिका लतिका का
मा ! क्या वंश बढ़ाएगी ?
मधुप बालिका का क्या यह ही
मा ! मानस बहलाएगी ?

यह तेरी अति नूतन नीति
मा ! यह तेरी न्यारी रीति
तेरी सुखमय सत्ता जग को
कहाँ नही जतलाती है ?
जहाँ छिपाती है अपने को
मा ! तू वही दिखाती है !

१९१८]

सरिता

स्नेह चाहिए सत्य, सरल!
कैसा ऊँचा नीचा पथ है
मा! उस सरिता का अविरल
तेरे गीतों को वह जिसमे
गाती है टल् टल् छल् छल्।

मैं भी उससे गीत सीखने
आज गई थी उसके पास,
उसके कैसे मृदुल भाव है?
उज्वल तन, मन भी उज्वल!

कितने छदो मे लहराकर
गाती है वह तेरे गीत!
एक भाव से अपने सुख दुख
तुझे सुनाती है कल् कल्!

मा! उसको किसने बतलाया
उस अनंत का पथ अज्ञात?
वह न कभी पीछे फिरती है,
कैसा होगा उसका बल?

एक ग्रंथि भी नही पड़ी है
उसके सरल मृदुल उर में,
उसका कैसा कर्मयोग है,
वह चंचल है, या अविचल?

१९१८]

भाव

तज कर वसन विभूषण भार,
अश्रु कणो का हार पहन कर
आज करूँगी मै अभिसार!

यह नव मुकुलित लता भवन
गुजित कुज, विजन कानन

चिर उत्सुकता की छाया से
मौन मलिन हो रहा अपार!

हिला हिला निज मृदुल अधर
कहते कुछ तरु दल मर् मर्,

अधकार का अलसित अचल
अब द्रुत ओढेगा ससार!

दिखलाई देगा जग श्याम,
तृषित हो रहा मम हृद्धाम,

यह तृष्णा ही कौस्तुभ मणि बन
मुझे दिखावेगी वह द्वार,
बन उसका हृदयालकार!

१६१६]

स्मिति बोध

कैसा नीरव मधुर राग यह
शिशु के कपित अधरो पर
सजनि ! खिल रहा है रह रह !

किन स्वप्नों की स्मृति सुखमय
उदय हुई है यह अक्षय ?
आँखमिचौनी सी अधरों से
कौन खेलता है छिपकर,
मृदु मुसकानों मे बह-बह !

अलि ! यह किसका सरल हृदय
अधरों पर बिबित छबिमय ?
यह किसकी जीवित छाया है ?
किस नव नाटक का उपक्रम ?
किन भावों का चित्र चरम ?

अये मृदुल ! यह किसके गीत
गाते हो तुम मधुर, पुनीत ?
प्रकट क्यों न कुछ कहते हो? क्या
वे इतने है गुप्त, परम ?
यह कैसा परिहास, सुषम !

१६१६]

निर्झर

निर्भर की अजस्र भर् भर् !
आओ, मन ! नव पाठ सीख लो
इस गिरि निर्भर के रव से,
यह निर्मल जल स्रोत गिर रहा
गिरि के चरणो मे कब से !
अपनी वीणा मे स्वर भर,—
आओ, इसके पास बैठकर
यह अनंत गाना गा लो,
इसका उज्वल वेग देख लो,
तुम भी दृगजल बरसा लो !
निर्भर की निर्भय भर् भर् !

निबल ! देख लो शीतल जल मे
अंतर्हित इच्छा की आग,
भूरि भिन्नता में अभिन्नता,
छिपा स्वार्थ मे सुखमय त्याग !
गा लो वीणा में स्वर भर,—
जो न अश्रु अंजलि देता हो
वह क्योकर सुख पाएगा ?
जिसे नही देना आता हो
वह किससे कैसे लेगा ?
फिर गिरि निर्भर की भर् भर् !

१९१९]

प्रतिबिंब

कुमुद कला को लेने जब मैं
रोई थी निज बचपन मे,
तब मेरी माँ कहती थी वह
रहती है नभ के वन में!

पर शिशुता वश नहीं सुना था
मैंने उसका समझाना,
तब मा ने था मुझे मनाया
दिखला शशि छबि दर्पण मे!

मैं तब कितनी अनभिज्ञा थी!
प्रतिबिंबित शशि को पाकर
मुसकानों में गा कर उससे
क्रीड़ा करती थी मन में!

यही सोचती थी शशि बाला
सचमुच मेरे कर मे है,
आनंदित होती थी उसको
पा उस प्रतिमा पूजन में!

धीरे धीरे अब तू अपना
दिव्य द्वार है खोल रही,

पल पल अपनी शुभ्र प्रभा है
प्रकटाती इस जीवन में!

मा, वह दिन कब आवेगा जब
मैं तेरी छवि देखूंगी,
जिसका यह प्रतिबिंब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पण में?

१९१८]

मरुस्थल

श्रूयते हि पुरा लोके—

विस्तृत मरु थल के उस पार
जहाँ स्वप्न सजते शृ गार,

छवि के वन मे एक नाल में
दो कलिकाएँ फूली हैं,
कलित कल्पना की डाली में
जो अतीत से भूली है;
जो मधु, धूलि सुगधि रहित है
दिव्य रूप करती विस्तार,
जहाँ स्वर्ण की आशा अलिनी
गाती है, कर स्वप्न विहार!

जब यह मरु रवि के आतप में
तप्त छोड़ता है निःश्वास,
उस छबि के वन मे ऊषा का
रहता है तब भी मृदु हास!
वह सोने की आशा अलिनी
करती है जब मृदु गुजार,
तब सुख हँसता, औ' दुख गाता,
विश्व दीखता एकाकार!

उस छबि के मजुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मग मे दुख पाता है !
बालू का प्रतिकण इस मरु का
मेरु सदृश हो उच्च अपार
भीरु पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण सरित की धार !

१६१६]

समर्पण

मुझे सोचने दो सजनी—
एक विहग बालिका बनी
आज अकेली बैठी हूँ मै
उस नीरव तरु के ऊपर,
जहाँ स्वप्न है रहे विचर !
पत्रों के मृदु अधरों से
जहाँ शून्य संगीत प्राण का
फूट रहा है अभय, अमर !
ये पीले पीले प्रियतर
अतिम आभा के कृश कर
मेरा स्वर्ण सदन सपनों का
छीन रहे हैं छिप छिप कर !

आओ शिव ! आओ सुदर !
मुझे सौपने दो तुमको
अपनी वांछाएँ रजकण सी,
होने दो निश्चित निडर !
निज वियोग की बाँहों में
मुझे सदा को बँध जाने दो,
फिर चाहे मेरा अतर
अंधकार हो चिर दुस्तर !

१९१९]

निवेदन

मधुरिमा के मृदु हास !
किस अदृश्य गुण से तुम मुझको
खींच रहे हो पास ?
सुनाई देता है बस गीत,
बुलावे की यह कैसी रीति ?

हृदय के सुरभित साँस !
चपल पलक से छूकर मुझको
निर्बल कर, किस ओर,
भुलावे में तुम कुसुम कठोर !
बहाते हो ? न कहीं है छोर !

बैठकर मैं इस पार,
शून्य बुद्बुदों से सुनती हूँ
जीवन का संगीत,
तुम्हारा मौन निमंत्रण, मीत !
विश्व का अंतिम गान पुनीत !

कहाँ हो कर्णधार !

लघु लहरों में खेल रही है

मेरी हलकी नाव,

न तुमसे है प्रिय ! तनिक दुराव

जानते हो सब मन के भाव !

१९१९]

उद्‌बोधन

आँखों के अविरल जल को
मत रोको, मन! मत रोको!

इस भीषण घन में सुदर
छिपा हुआ है मुक्ताकर,
इसी अश्रुजल में वह मुख
अवलोको, मन ! अवलोको !

इस गर्जन में गौरव गान
मिला हुआ है, दो हे कान,
इसी चचला मे है बल,
मत चौंको, मन! मत चौको!

इसी मलिनता मे निर्मल
छिपा हुआ है शीतल जल,
इस तम मे ही है प्रियतम
अवलोको मन ! अवलो को!

लुटने ही मे है सयोग,
जुटने ही में मेल अमोघ,
कुठित ही क्यों हो न कृपाण,
पर, भोंको, निर्भय भोको!

१६१८]

उमंग

तुम्हारे कोमल अंग,
विधुर उर के तारों मे आज
गा रहे हैं क्या अस्फुट गीत ?
छिपे थे जो स्वर सहज पुनीत
विकल क्यों हुए आज निर्व्याज ?

निठुर वाणी का ढग !
शब्द का गौरव, स्वर का स्पर्श
हो गया है क्या विभव विहीन !
दिखाने को यह रूप नवीन
हो गये क्या निरर्थ आदर्श ?

आज अज्ञेय अनग !
धूम की खिली स्फीति सी घूम
ऊर्मियों में छबि की अनुकूल,
लीन हो जाऊँ मैं, सब भूल,
दूर से अधर तुम्हारे चूम !

मुझे अज्ञात उमंग,
बहाती है कब से, किस ओर!
कौन जाने? पर मेरे नाथ!
न छूटे इस अतृप्ति से साथ,
सदा ही रहे अविकसित भोर,
स्वप्न मत हो यह भंग!

१६१६]

संधि दिवस

नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !
झंझावात ! प्रलय ! भूकंप !
वह्नि ! बाढ ! उल्का ! दृढ शब
तृष्णा का वह भीषण तांडव
अंत हुआ है आज प्रचड ?
नीरव, व्योम ! विश्व नीरव !

पश्चिम के रक्तार्णव मे
रक्त हस्त विद्वेष चक्र वह
अस्त हुआ है आज अखंड !
नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !

\+ \+

एक तिमिर की गहरी आह,
द्रुत भर दे यह गर्त अथाह !
एक नाद का यही अत हो
डम् डम् डमरु बजे फिर शांत !
उठो भ्रात ! अब जागो मान !

किनकी अमृत शुभाशाएँ—
वह, प्राची से ज्योतिर्मय-कर
वढा रही है मंगल, कात ?
सुखमय हो यह नवल प्रभात !

११ नवंबर १९१९]

नराश्य

मेरे इस अंतिम विलास मे,
—जब कि भग्न आशाएँ मेरी
एकत्रित हो आज
सजाती हैं मुझको निर्व्याज,
(नवल बल, नव सुख, नूतन साज !)

—जब कि पराजय पागलपन बन
करती है उपहास—
कहाँ है प्रेम ? कहाँ विश्वास ?
आत्म बलिदान ?—किसे है प्यास ?

कौन कौन तुम इस मदिरा के
कनक हास से भीत
गा रहो हो यह बेसुर गीत—
'कठिन कर्तव्य !'—किसे है प्रीत ?

वहाँ, स्वर्ण सिंहासन मेरा
सज्जित है उस ओर,
जहाँ मेरी आशा की भोर !
जल रही है ज्वाला बन घोर !

पश्चिम की अंतिम किरणों में—

बना रही है, वह, मेरा पथ
पतित पदों की धूल,
भग्न मन विरह वेदना भूल
जहाँ ओढ़ेगा दग्ध दुकूल !

१६१६]

चेतक के प्रति

गहन कानन !
व्रत से पोषित विघ्न सदृश पावस नद गर्जन
करता है गति रोध—
नियति सा कुंचित, कोमल दर्शन !

प्रतिहिंसा सी, कायरता सी,
वह, पीछे करवाल
चमकती है कैसी विकराल ?
हँस रहा हो ज्यों असमय भीषण !

छोड़ अंतिम निःश्वास—
वायु गति से हो नद के पार
शूर स्वामी का कर उपकार,
जा रहा है, वह, सखि ! उस पार
आज प्रभु भक्त प्रहत, लोहित तन !

करुण नयनों की नीरव कोर
डाल निश्चल स्वामी की ओर,
अर्ध हिनहिना, अश्रु जल छोड़,
दृगों मे मूँद चरम छवि पावन !

—कहाँ हाय ! सुख दुख के सहचर !
चेतक ! चेतक ! मुझे छोड़कर—
कहाँ चल दिये तुम असमय पर—
हा—मेरे रण भूषण !!!

१६२०]

वसंत श्री

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही. मा !
वह अपनी वय बाली मे ?
सजा हृदय की थाली मे—

क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता,
मोद, मधुरिमा, हास, विलास
लीला, विस्मय, अस्फुटता, भय,
स्नेह, पुलक, सुख, सरल हुलास
ऊषा की मृदु लाली में—

किसका पूजन करती पल पल
बाल चपलता से अपनी ?
मृदु कोमलता से वह अपनी,
सहज सरलता से अपनी ?
मधुऋतु की तरु डाली में—

रूप, रग, रज, सुरभि, मधुर मधु,
भर भर मुकुलित अगों मे
मा ! क्या तुम्हे रिझाती है वह ?
खिल खिल बाल उमगों में,
हिल मिल हृदय तरगों मे ?

१९१८]

याचना

वना मधुर मेरा जीवन !
नव नव सुमनों से चुन चुन कर
धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण,
मेरे उर की मृदु कलिका मे
भर दे, कर दे विकसित मन !

बना मधुर मेरा भाषण !
वंशी से ही कर दे मेरे
सरल प्राण औ' सरस वचन,
जैसा जैसा मुझको छेड़े,
बोलूं अधिक मधुर, मोहन,
जो अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मत्र मुग्ध, नत फन,
रोम रोम के छिद्रों से मा !
फूटे तेरा राग गहन !
बना मधुर मेरा तन, मन !

१९१८]

विहग बाला के प्रति

अँगड़ाते तम में
अलसित पलकों से स्वर्ण स्वप्न नित
सजनि ! देखती हो तुम विस्मित ,
नव, अलभ्य, अज्ञात !

आओ, सुकुमारि विहग बाले !
अपने कलरव ही से कोमल
मेरे मधुर गान में अविकल
सुमुखि ! देख लो दिव्य स्वप्न-सा
जग का नव्य प्रभात !

है स्वर्ण नीड़ मेरा भी जग उपवन मे ,
मै खग सा फिरता नीरव भाव गगन मे ,
उड मृदुल कल्पना पंखों मे, निर्जन मे ,
चुगता हूँ गाने बिखरे तून में, कन में !

कल कठिनि ! निज कलरव में भर ,
अपने कवि के गीत मनोहर
फैला आओ वन वन, घर घर ,
नाचें तृण, तरु, पात !

१६१६]

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना ंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि !
पाया, तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न नीड़ में
पंखों के सुख मे छिपकर,
झूम रहे थे, घूम द्वार पर,
प्रहरी से जुगनूँ नाना !
शशि किरणों से उतर-उतर कर
भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना !
स्नेह हीन तारों के दीपक,
श्वास शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि मे,
तम ने था मडन ताना !

कूक उठी सहसा तरु वासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अंतर्यामिनि !
बतलाया उसका आना ?

निकल सृष्टि के अध गर्भ से
छाया तन बहु छाया हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना माना!
छिपा रही थी मुख शशि बाला
निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल क्रोड मे बदी था अलि,
कोक शोक से दीवाना!
मूर्छित थी इद्रियाँ, स्तब्ध जग,
जड चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर मे केवल
साँसो का आना जाना!

तूने ही पहले बहुदर्शिनि!
गाया जागृति का गाना,
श्री सुख सौरभ का नभ चारिणि!
गूँथ दिया ताना बाना!

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति पुज मे हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत जाल मे
धर कर नाम रूप नाना!
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम दल,
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का सा दाना!

खुले पलक, फैली सुवर्ण छबि,
जगी सुरभि, डोले मधु बाल,
स्पंदन कंपन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना;

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि!
पाया यह स्वर्गिक गाना?

१६१६]

बालापन

चित्रकार ! क्या करुणा कर फिर
मेरा भोला बालापन
मेरे यौवन के अंचल में
चित्रित कर दोगे पावन ?
आज परीक्षा तो लो अपनी
कुशल लेखनी की ब्रह्मन् !
उसे याद होगा वह अपने
उर का उज्वल भाव रतन !

जब कि कल्पना की तंत्री मे
खेल रहे थे तुम करतार !
तुम्हें याद होगी, उससे जो
निकली थी अस्फुट झंकार ?
हाँ, हाँ, वही, वही, जो जल, थल,
अनिल, अनल नभ से उस बार
एक बालिका के क्रदन मे
ध्वनित हुई थी, बन साकार !

वही प्रतिध्वनि निज बचपन की
कलिका के भीतर अविकार
रज मे लिपटी रहती थी नित ,
मधुबाला की सी गुजार ;
यौवन के मादक हाथों ने
उस कलिका को खोल अजान ,
छीन लिया हा ! ओस बिन्दु सा
मेरा मधुमय, तुतला गान !

अहो विश्वसृज ! पुन. गूँथ दो
वह मेरा बिखरा संगीत
मा की गोदी का थपकी से
पला हुआ वह स्वप्न पुनीत !

वह ज्योत्स्ना से हर्षित मेरा
कलित कल्पनामय संसार ,
तारों के विस्मय से विकसित
विपुल भावनाओं का हार ;
सरिता के चिकने उपलों सी
मेरी इच्छाएँ रंगीन ,
वह अजानता की सुदरता ,
वृद्ध विश्व का रूप नवीन ;

अहो कल्पनामय ! फिर रच दो
वह मेरा निर्भय अज्ञान ,
मेरे अधरों पर वह मा के
दूध से धुली मृदु मुसकान !

मेरा चिन्ता रहित, अनलसित,
वारि बिम्ब सा विमल हृदय,
इंद्रचाप सा वह बचपन के
मृदुल अनुभवों का समुदय;
सांध्य गगन सा, स्वर्ण ज्योति से
आलिंगित जग का परिचय,
इंदु विचुंबित बाल जलद सा
मेरी आशा का अभिनय;

इस अभिमानी अंचल मे फिर
अंकित कर दो, विधि! अकलंक,
मेरा छीना बालापन फिर
करुण! लगा दो मेरे अंक!

विहग बालिका का सा मृदु स्वर,
अर्धखिले, नव कोमल अंग,
क्रीडा कौतूहलता मन की,
वह मेरी आनंद उमंग,

अहो दयामय! फिर लौटा दो
मेरी पद प्रिय चंचलता,
तरल तरंगों सी वह लीला,
निर्विकार भावना लता!

धूलभरे, घुँघराले, काले,
भय्या को प्रिय मेरे बाल,
माता के चिर चुंबित मेरे
गोरे, गोरे, सस्मित गाल;

वह काँटों में उलझी साड़ी,
मंजुल फूलों के गहने,
सरल नीलिमामय मेरे दृग
अस्त्र हीन संकोच सने;

उसी सरलता की स्याही से
सदय! इन्हें अंकित कर दो,
मेरे यौवन के प्याले में
फिर वह बालापन भर दो!

हा, मेरे बचपन से कितने
बिखर गए जग के शृंगार!
जिनकी अविकच दुर्बलता ही
थी जग की शोभालंकार;
जिनकी निर्भयता विभूति थी,
सहज सरलता शिष्टाचार,
औ' जिनकी अबोध पावनता
थी जग के मंगल की द्वार!

—हे विधि! फिर अनुवादित कर दो
उसी सुधा स्मिति में अनुपम
मा के तन्मय उर से मेरे
जीवन का तुतला उपक्रम!

मार्च, १९१९]

स्वप्न

बालक के कंपित अधरों पर
किस अतीत स्मृति का मृदु हास
जग की इस अविरत निद्रा का
करता नित रह रह उपहास ?
उस स्वप्नों की स्वर्ण सरित का
सजनि ! कहाँ शुचि जन्मस्थान,
मुसकानों मे उछल उछल मृदु,
बहती वह किस ओर अजान ?

किन कर्मो की जीवित छाया
उस निद्रित विस्मृति के सग
आँखमिचौनी खेल रही वह,
किन भावों की गूढ़ उमग ?
मुँदे नयन पलको के भीतर
किस रहस्य का सुखमय चित्र
गुप्त वचना के मादक कर
खीच रहे सखि ! स्वर्ण विचित्र ?

निद्रा के उस अलसित वन मे
वह क्या भावी की छाया
दृग पलकों में विचर रही, या
वन्य देवियों की माया?
नयन नीलिमा के लघु नभ में
अलि! किस सुखमा का ससार
विरल इंद्रधनुषी बादल सा
बदल रहा निज रूप अपार?

मुकुलित पलको के प्यालो में
किस स्वप्निल मदिरा का राग
इंद्रजाल सा गूँथ रहा नव,
किन पुष्पों का स्वर्ण पराग?
किन इच्छाओं के पखो मे
उड़ उड़ ये आँखे अनजान
मधुबालों सी, छाया वन की
कलियों का मधु करती पान?

मानस की सस्मित लहरो पर
किस छबि की किरणे अज्ञात
रजत स्वर्ण में लिखती अविदित
तारक लोकों की शुचि बात?
किन जन्मों की चिर संचित सुधि
बजा सुप्त तंत्री के तार,
नयन नलिन मे बँधी मधुप सी
करती मर्म मधुर गुजार?

पलक यवनिका के भीतर छिप,
हृदय मच पर छा छविमय,

सजनि ! अलस के मायावी शिशु
खेल रहे कैसा अभिनय ?
मीलित नयनों का अपना ही
यह कैसा छायामय लोक,
अपने ही सुख दुख इच्छाएँ,
अपनी ही छबि का आलोक !

मौन मुकुल मे छिपा हुआ जो
रहता विस्मय का ससार
सजनि ! कभी क्या सोचा तूने
वह किसका शुचि शयनागार ?
प्रथम स्वप्न उसमें जीवन का
रहता चिर अविकच, अज्ञान,
जिसे नही चिन्ता छू पाती,
जो केवल मृदु अस्फुट गान !

जब शशि की शीतल छाया मे
रुचिर रजत किरणे सुकुमार
प्रथम खोलती नव कलिका के
अन्तःपुर के कोमल द्वार,
अलिबाला से सुन तब सहसा,—
'जग है केवल स्वप्न असार',
अर्पित कर देती मारुत को
वह अपने सौरभ का भार !

हिमजल बन, तारक पलकों से
उमड़ मोतियों से अवदात,
सुमनों के अधखुले दृगों मे
स्वप्न लुढ़कते जो नित प्रात ;

उन्हें सहज अंचल में चुन चुन,
गूँथ उषा किरणों में हार
क्या अपने उर के विस्मय का
तूने कभी किया श्रृंगार?

विजन नीड़ मे चौंक अचानक,
विटप बालिका पुलकित गात
जिन सुवर्ण स्वप्नों की गाथा
गा गा कर कहती अज्ञात,
सजनि! कभी क्या सोचा तूने
तरुओं के तम में चुपचाप,
दीप शलभ दीपों को चमका
करते जो मृदु मौनालाप?

अलि! किस स्वप्नों की भाषा में
इंगित करते तरु के पात,
कहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
वह तारक स्वप्नों की रात?
दिनकर की अन्तिम किरणों ने
उस नीरव तरु के ऊपर
स्वप्नों का जो स्वर्ण जाल है
फैलाया सुखमय, सुदर,
विहग बालिका बन हम दोनों,
बैठ वहाँ पल भर एकांत,
चल सखि! स्वप्नों पर कुछ सोचे,
दूर करें निज भ्राति नितात!

सजनि! हमारा स्वप्न सदन क्यों
सिहर उठा सहसा थर् थर्!

किस अतीत के स्वप्न अनिल मे
गूँज उठे, कर मृदु मर् मर्!
विरस डालियों से यह कैसा
फूट रहा हा! रुदन मलिन,—
'हम भी हरी भरी थीं पहिले,
पर अब स्वप्न हुए वे दिन!'

पत्रों के विस्मित अधरों से
संसृति का अस्फुट संगीत
मौन निमन्त्रण भेज रहा वह
अंधकार के पास सभीत!
सघन द्रुमो मे झूम रहा अब
निद्रा का नीरव निःश्वास,
मूँद रहा घन अंधकार मे
रह रह अलस पलक आकाश!

जग के निद्रित स्वप्न सजनि! सब
इसी अंध तम मे बहते,
पर जागृति के स्वप्न हमारे
सुप्त हृदय ही मे रहते!
अह, किस गहरे अंधकार मे
डूब रहा धीरे संसार,
कौन जानता है, कब इसके
छूटेंगे ये स्वप्न असार!
अलि! क्या कहती है, प्राची से
फिर उज्वल होगा आकाश?
पर, मेरे तम पूर्ण हृदय मे
कौन भरेगा प्रकृत प्रकाश!

नवम्बर १९१९]

ग्रंथि

वह मधुर मधुमास था, जब गंध से
मुग्ध होकर झूमते थे मधुप दल;
रसिक पिक से सरस तरुण रसाल थे,
अवनि के सुख बढ रहे थे दिवस से!
जानकर ऋतुराज का नव आगमन
अखिल कोमल कामनाएँ अवनि की
खिल उठी थीं मृदुल सुमनों मे कई
सफल होने को अवनि के ईश से!

अस्तमित निज कनक किरणों को तपन
चरम गिरि को खींचता था कृपण सा,
अरुण आभा में रँगा था वह पतन
रजकणों सी वासनाओं से विपुल!
तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल मे;
साध्य निःस्वन से गहन जल गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया!

वुद्बुदे जिन चपल लहरों मे प्रथम
गा रहे थे राग जीवन का अचिर,

अल्प पल उनके प्रबल उत्थान मे
हृदय की लहरे हमारी सो गई !

× × × ×

जब विमूर्छित नीद से मै था जगा
(कौन जाने, किस तरह) पीयूष सा
एक कोमल समव्यथित निःश्वास था
पुनर्जीवन सा मुझे तब दे रहा !
शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर,
शशि कला सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल,
सदय, भीरु, अधीर चिंतित दृष्टि से !

इदु पर, उस इंदु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे,—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था !
बाल रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के बदन के बीच मे;
अचल, रेखाकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछबि के काव्य मे,

एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय संबध था !
लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों मे नवीन गुलाब-से,

छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप-से!

(इन गढ़ों मे—रूप के आवर्त से—
घूम फिर कर, नाव-से किसके नयन
है नही डूबे, भटक कर, अटक कर,
भार से दबकर तरुण सौन्दर्य के?)
सुभग लगता है गुलाब सहज सदा,
क्या उषामय का पुनः कहना भला?
लालिमा ही से नही क्या टपकती
सेब की चिर सरसता, सुकुमारता?
पद नखों को गिन, समय के भार को
जो घटाती थी भुलाकर अवनितल
खुरच कर, वह जड़ पलों की घृष्टता
थी वहाँ मानो छिपाना चाहती!

× × × ×

इन्दु की छवि मे, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीचि मे,
एक उत्सुकता विचरती थी सरल
सुमन की स्मिति में, लता के अधर मे!
निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी!
प्रथम केवल मोतियों को हंस जो
नरसता था, अब उसे तर सलिल मे

कमलिनी के साथ क्रीड़ा की सुखद
लालसा पल पल विकल थी कर रही!
रसिक वाचक! कामनाओं के चपल,
समुत्सुक, व्याकुल पगों से प्रेम की
कृपण बीथी मे विचर कर कुशल से
कौन लौटा है हृदय को साथ ला?

× × × ×

हाँ, तरणि थी मग्न जब मेरी हुई
(सरस मोती के लिए ही?) उस समय
छलकता था वक्ष मेरा स्फीति से,
मुग्ध विस्मय से, अतृप्त भुलाव से!
बाल्य की विस्मय भरी आँखे, मृदुल
कल्पना की कृश लटों में उलझ के
रूप की सुकुमार कलिका के निकट
झूम, मँडराने लगी थीं घूम कर!
चपल पलकों में छिपे सौन्दर्य के
सहज दब कर, हृदय मादकता मिली
गुदगुदी के स्निग्ध पुलकित स्पर्श को
समुत्सुक होने लगा था प्रतिदिवस!

दृष्टिपथ पर दूर अस्फुट प्यास सी
खेलती थी एक रजत मरीचिका,
शरद के बिखरे सुनहले जलद सी
बदलती थी रूप आशा निरंतर!
अहृ, सुरा का बुलबुला यौवन धवल
चद्रिका के अधर पर अटका हुआ,

हृदय को किस सूक्ष्मता के छोर तक
जलद सा है सहज ले जाता उड़ा!

× × ×

हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि बंधन हो गया, वह नव कमल
मधुप सा मेरा हृदय लेकर, किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया!
पाणि! कोमल पाणि! निज बंधूक की
मृदु हथेली में सरल मेरा हृदय
भूल से यदि ले लिया था, तो मुझे
क्यों न वह लौटा दिया तुमने पुनः?

प्रणय की पतली अँगुलियाँ क्या किसी
गान से विधि ने गढ़ीं? जो हृदय को,
याद आते ही, विकल संगीत मे
बदल देती हैं भुला कर मुग्ध कर!
याद है मुझको अभी वह जड़ समय
व्याह के दिन जब विकल दुर्बल हृदय
अश्रुओ से तारकों को विजन में
गिन रहा था, व्यस्त हो उद्भ्रात हो!

हाय रे मानव हृदय! तुझसे जहाँ
वज्र भी भयभीत होता है, वहीं
देख तेरी मृदुलता तिल सुमन भी
संकुचित हो, सहम जाता है सदा!
ग्रथि बंधन!—इस सुनहली ग्रंथि मे
स्वर्ग की औ' विश्व की मगलमयी

जो अनोखी चाह, जो उन्मत्त धन
है छिपा, वह एक है, अनमोल है!

शैवलिनि! जाओ, मिलो तुम सिंधु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन को,
चंद्रिके! चूमो तरंगों के अधर,
उडगणो! गाओ, पवन वीणा बजा!
पर, हृदय! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठ कर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी!
देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को,
वह, मधुप बिंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो हृदय, रो!

× × × ×

छि: सरल सौन्दर्य! तुम सचमुच बड़े
निठुर औ' नादान हो! सुकुमार, यों
पलक दल में तारकों में, अधर में
खेल कर तुम कर रहे हो हाय! क्या?
जानते हो क्या? सुकोमल गाल पर
कृश अँगुलियों पर, कटी कटि पर छिपे,
तुम मिचौनी खेल कर कितना गहन
घाव करते हो सुमन-से हृदय में!

औ' अकेले चिबुक तिल से, कुछ उठी
कुछ गिरी भ्रू वीचि से कुछ कुछ खुली

नयनता से, कुछ रुकी मुसकान से
छीनते किस भाँति हो तुम धैर्य का?
मुकुल के भीतर उषा की रश्मि से
जन्म पा, मधु की मधुरता, धूलि की
मृदुलता, कटु कंटकों की प्रखरता
मुग्धता ली मधुप की तुमने चुरा!

और, भोले प्रेम! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से? जहाँ
झूमते गज-से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है!
पर नहीं, तुम चपल हो, अज्ञान हो,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं,
बस, बिना सोचे, हृदय को छीनकर,
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में!

स्मृति! यदपि तुम प्रणय की पदचिह्न हो,
पर निरी हो बालिका—तुम हृदय को
गुदगुदाती हो, तरल जल बिम्ब-सी
तैरती हो, बाल क्रीड़ा कर सदा!
नियति! तुम निर्दोष और अछूत हो,
सहज हो सुकुमार, चकई का तुम्हे
खेल अति प्रिय है सतत कृश सूत्र से
तुम फिराती हो जगत को समय सा!

मंजु छाया के विपिन मे पूर्णिमा
सजल पात्रों से टपकती है जहाँ,
विचरती हो वेश प्रतिपल बदल कर
सुघर मोती-से पदों से ओस के!

अमृत आशा ! चिर दुख की सहचरी
नित नई मिति भी, मनोरम रूप भी,
विभव वंचित, तृषित, लालायित नयन
देखते है सदय मुख तेरा सदा !

देवि ! ऊषा के खिले उद्यान मे
सुरभि वेणी में भ्रमर को गूँथ कर
रेणु की साड़ी पहन, चल तुहिन का
मुकुट रख, तुम खोलती हो मुकुल को !
मेघ-से उन्माद ! तुम स्वर्गीय हो,
कुमुद-कर से जन्म पा, तुम मधुप के
गीत पीकर मत्त रहते हो सदा,
मौन चिर अनिमेष निर्जन पुष्प से !

आह !—सूखे आँसुओं की कल्पना,
कोहरे सी मुक्त नभ में झूम कर,
दग्ध उर का भार हर, तुम जलद सी
बरसती हो स्वच्छ हलकी शांति में !
अश्रु,—हे अनमोल मोती दृष्टि के !
नयन के नादान शिशु ! इस विश्व में
आँख है सौन्दर्य जितना देखती
अतनु ! तुम उससे मनोरम हो कहीं !

अश्रु !—दिल की गूढ़ कविता के सरल
औ' सलोने भाव ! माला की तरह
विकल पल मे पलक जपते हैं तुम्हें,
तुम हृदय के घाव धोते हो सदा !
वेदने ! तुम विश्व की कृश दृष्टि हो,
तुम महा संगीत, नीरव हास हो,

है तुम्हारा हृदय माखन का बना,
आँसुओं का खेल भाता है तुम्हें !

वेदना !—कैसा करुण उद्गार है !
वेदना ही है अखिल ब्रह्मांड यह,
तुहिन मे, तृण में, उपल में, लहर में,
तारकों मे, व्योम में है वेदना !
वेदना !—कितना विशद यह रूप है !
यह अँधेरे हृदय की दीपक शिखा !
रूप की अंतिम छटा ! इस विश्व की
अगम चरम अवधि, क्षितिज की परिधि सी !

कौन दोषी है ! यही तो न्याय है !
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, उधर
दग्ध चातक तरसता है—विश्व का
नियम है यह; रो अभागे हृदय रो !!

× × ×

कौन वह बिछुड़े दिलों की दुर्दशा
पोंछ सकता है ? दृगों की बाढ़ में
विकल, बिखरे, बुदबुदों की बूड़ती
मौन आहें हाय ! कौन समझ सका !
शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर
विरह ! —अहह, कराहते इस शब्द को
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा !!

× × × ×

प्रेम वंचित को तथा कंगाल को
है कहाँ आश्रय ! विरह की वह्नि में
भस्म होकर हृदय की दुर्बल दशा
हो गई परिणत विरति सी शक्ति में !
सुहृद्वर ! कंगाल, कृश ककाल सा,
भैरवी से भी सुरीला है अहा !
किस गहनता के अधर से फूट कर
फैलते है शून्य स्वर इसके सदा !

आज मै कंगाल हूँ—क्या यह प्रथम
आज मैंने ही कहा ? जो हृदय ! तुम
बह रहे हो मुक्त हलके मोद में
भूल कर दुर्दैव के गुरु भार को !
मै अकेला विपिन में बैठा हुआ
सीचता हूँ विजनता से हृदय को,
और उसकी भेदती कृश दृष्टि से
ढूंढ़ता हूँ विश्व के उन्माद को।

विश्व,—यह कैसी मनोहर भूल है !
मधुर दुर्बलता !—कई छोटी बड़ी
अल्पताएँ जोड़, लीला के लिए,
यह निराला खेल क्या विधि ने रचा ?
कौन सी ऐसी परम वह वस्तु है
भटकते है मनुजगण जिसके लिए ?
कौन सा ऐसा चरम सौन्दर्य है
खीचता है जो जगत के हृदय को ?

आह, उस सर्वोच्च पद की कल्पना
विश्व का कैसा उपल उन्माद है !

यह विशाल महत्त्व कितना रिक्त है,
विपुलता कितनी अबल, असहाय है!
कौन सी ऐसी निरापद है दशा
लोग अभ्युत्थान कहते हैं जिसे?
पतन, इसमें कौन सा अभिशाप है
जो कंपाता है जगत के धैर्य को?

निपट नग्न निरीहता को छोड़कर
कौन कर सकता मनोरथ पूर्ति है?
कौन अज्ञ दरिद्रता से अधिकतर
शक्तिमय है, श्रेष्ठ है, संपन्न है?
सौख्य? यह तो साधना का शत्रु है,
रिक्त, कुंठित क्षीणता है शक्ति की;
हा! अलस के इस अपाहिज स्वाँग में
हो गई क्यों मग्न जग की गहनता!

ज्ञान? यह तो इन्द्रियों की भ्रांति है,
शून्य जृंभा मात्र निद्रित बुद्धि की;
जुगुनुओं की ज्योति से, वन में विजन,
जन्म पीपल के तले इसका हुआ!
वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पद
वेदना ही का मनोहर रूप है,
वेदना ही का स्वतंत्र विनोद है!

वेदना से भी निरापद क्या कहा
और कोई शरण है संसार में?
वेदना से भी अधिक निर्भय तथा
निष्कपट साम्राज्य है क्या स्वर्ग का?

कर्म के किस जटिल विस्तृत जाल में
है गुँथी ब्रह्मांड की यह कल्पना !
योग बल का अटल आसन है अड़ा
वेदना के किस गहन स्तर में अहा !

आज मै सब भाँति सुख सपन्न हूँ
वेदना के इस मनोरम विपिन मे ;
विजय छाया में द्रुमों की, योग सी,
विचरती है आज मेरी वेदना !
विपुल कुजों की सघनता में छिपी
ऊँघती है नीद सी मेरी स्पृहा ;
ललित लतिका के विकंपित अधर में
काँपती है आज मेरी कल्पना !

ओस जल-से सजल मेरे अश्रु हैं
पलक दल में दूब के बिखरे पड़े !
पवन पीले पात मे मेरा विरह
है खिलाता, दलित मुरझे फूल सा !
सुमन दल में फूट, पागल सी, अखिल
प्रणय की स्मृति हँस रही है, मुकुल मे
वास है अज्ञात भावी कर रही
आज मेरी द्रौपदी सी परवशा !

गर्व सा गिर उच्च निर्झर स्रोत से
स्वप्न सुख मेरा शिलामय हृदय में
घोष भीषण कर रहा है वज्र सा,
वात सा, भूकम्प सा, उत्पात सा !
तारकों के अचल पलकों से विपुल
मौन विस्मय छीनकर मेरा पतन

निर्निमेष विलोकता है विश्व की
भीरुता को चन्द्रमा की ज्योति में !

तिमिर के अज्ञात अंचल मे छिपी
झूमती है भ्रांति मेरी भ्रमर सी,
चंद्रिका की लहर में है खेलती
भग्न आशा आज शत शत खंड हो !
तिमिर ! —यह क्या विश्व का उन्माद है,
जो छिपाता है प्रकृति के रूप को ?
या किसी की यह विनीरव आह है
खोजती है जो प्रलय की राह को !

या किसी के प्रेम वंचित पलक को
मूक जड़ता है ? पवन में विचर कर,
पूछती है जो सितारों से सतत—
'प्रिय! तुम्हारी नींद किसने छीन ली ?'
यह किसी के रुदन का सूखा हुआ
सिन्धु है क्या ! जो दुखों की बाढ़ में
सृष्टि की सत्ता डुबाने के लिए
उमड़ता है एक नीरव लहर में !

आह, यह किसका अँधेरा भाग्य है ?
प्रलय छाया सा, अनंत विषाद सा !
कौन मेरे कल्पना के विपिन में
पागलों सा यह अभय है घूमता ?
हृदय ! यह क्या दग्ध तेरा चित्र है ?
धूम ही है शेष अब जिसमे रहा !
इस पवित्र दुकूल से तू दैव का
बदन ढँकने के लिए क्यों व्यग्र है !

१६२०]

छाया

कौन, कौन तुम परिहृत वसना
म्लान मना, भू पतिता सी,
वात हृता विच्छिन्न लता सी,
रति श्रांता व्रज वनिता सी ?
नियति वंचिता, आश्रय रहिता,
जर्जरिता, पद दलिता सी,
धूल धूसरित मुक्त कुतला,
किसके चरणों की दासी ?

कहो, कौन हो दमयंती सी
तुम द्रुम के नीचे सोई !
हाय ! तुम्हे भी त्याग गया क्या
अलि ! नल सा निष्ठुर कोई ?
पीले पत्रों की शय्या पर
तुम विरक्ति सी, मूर्छा सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह मलिन, दुख विधुरा सी ?

गूढ़ कल्पना सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय सी,

ऋषियों के गंभीर हृदय सी,
बच्चों के तुतले भय सी !
आशा के नव इन्द्रजाल सी,
सजनि ! नियति सी अंतर्धान,
कहो कौन तुम तरु के नीचे
भावी सी हो छिपी अजान ?

चिर अतीत की विस्मृत स्मृति सी
नीरवता की सी झंकार,
आँखमिचौनी सी असीम की,
निर्जनता की सी उद्गार;
किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि ! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार ?

निर्जनता के मानस पट पर
—बार बार भर ठंढी साँस—
क्या तुम छिपकर क्रूर काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ?
सखि ! भिखारिणी सी तुम पथ पर
फैला कर अपना अंचल,
सूखे पातों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ?

पत्रों के अस्फुट अधरों से
संचित कर सुख दुख के गान,
सुला चुकी हो क्या तुम अपनी
इच्छाएँ सब अल्प, महान ?

कभी लोभ सी लंबी होकर,
कभी तृप्ति सी होकर पीन,
तुम संसृति की अचिर भूति या
सजनि, नापती हो स्थिति-हीन?

कालानिल की कुंचित गति से
बार बार कंपित होकर,
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
नीरव शब्दों मे निर्भर
किस अतीत का करुण चित्र तुम
खीच रही हो कोमलतर,
भग्न भावना, विजन वेदना
विफल लालसाओं से भर?

ऐ अवाक् निर्जन की भारति!
कंपित अधरों से अनजान
मर्म मधुर किस सुर में गाती
तुम अरण्य के चिर आख्यान?
ऐ अस्पृश्य, अदृश्य अप्सरसि!
यह छाया तन, छाया लोक,
मुझको भी दे दो मायावनि!
उर की आँखों का आलोक!

थके चरण चिह्नों को अपनी
नीरव उत्सुकता से भर,
दिखा रही हो क्या तुम जग को
पर सेवा का मार्ग अमर?
श्रमित तपित अवलोक पथिक को
रहती या यों दीन, मलीन?

ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि !
विश्व वेदना मे तल्लीन।

दिनकर कुल में दिव्य जन्म पा,
वढ़ कर नित तरुवर के सग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढँक कर अपने कोमल अंग ;
सदुपदेश सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित हार,
पर सेवा रत रहती हो तुम,
हरती हो पथ श्राति अपार !

हे सखि ! इस पावन अंचल से
मुझको भी निज मुख ढँक कर
अपनी विस्मृत सुखद गोद मे
सोने दो सुख से क्षण भर !
चूर्ण शिथिलता सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन,
पर पीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो, कर मद हीन !

× × × ×

गाओ गाओ, विहग वालिके
तरुवर से मृदु मंगल गान,
मे छाया मे बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर मे कर लूं स्नान !

—हाँ, सखि, आओ, बाँह खोल हम
लग कर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्धान !

दिसम्बर, १९२०]

उच्छ्वास

(सावन भादों)

(सावन)

सिसकते, अस्थिर मानस से
वाल वादल सा उठकर आज
सरल, अस्फुट उच्छ्वास!
अपने छाया के पंखों में
(नीरव घोप भरे शंखों में)
मेरे आँसू गूँथ, फैल गंभीर मेघ सा,
आच्छादित कर ले सारा आकाश!

मंद, विद्युत सा हँसकर,
वज्र सा उर में धँसकर
गरज, गगन के गान! गरज गंभीर स्वरों में,
भर अपना संदेश उरों में, औ' अधरों में;
वरस धरा में, वरस सरित, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा संताप, पाप जग का क्षणभर में!
हृदय के सुरभित साँस!
जरा है आदरणीय,
सुखद यौवन? विलास उपवन रमणीय,
शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु, सरल कमनीय;

—बालिका ही थी वह भी !

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला तन !

रँगीले, गीले फूलों-से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित !
—इसी में था असीम अवसित !

मधुरिमा के मधुमास !
मेरा मधुकर का सा जीवन,
कठिन कर्म है, कोमल है मन,
विपुल मृदुल सुमनों से सुरभित,
विकसित है विस्तृत जग उपवन !

यही हैं मेरे तन, मन, प्राण,
यही है ध्यान, यही अभिमान;
धूलि की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान !

कुटिल काँटे है कहीं कठोर,
जटिल तरु जाल घिरे चहुँ ओर,
सुमन दल चुन चुन कर निशिभोर
खोजना है अजान वह छोर !

—नवल कलिका थी वह !
उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया,
नित मधुर मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया !
कह उसे कल्पनाओं की
कल कल्पलता, अपनाया ;
बहु नवल भावनाओं का
उसमें पराग था पाया !
मैं मंद हास सा उसके
मृदु अधरों पर मँडराया ;
औ' उसकी सुखद सुरभि से
प्रति दिन समीप खिंच आया !

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश ;
पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश !
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार ;
—जिसके चरणों में पड़ा ताल
दर्पण सा फैला है विशाल !

गिरि का गौरव गाकर झर् झर्
मद से नस नस उत्तेजित कर
मोती की लडियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर !
गिरिवर के उर से उठ उठ कर
उच्चाकांक्षाओं—से तरुवर

हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर !

—उड़ गया अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार वारिद के पर !
रव-शेष रह गए हैं निर्झर !
है टूट पड़ा भू पर अंबर !

धँस गए धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुआ, जल गया ताल
—यों जलद यान में विचर, विचर,
था इंद्र खेलता इंद्रजाल !
(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर !)

इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी ;
सरल शैशव की सुखद सुधि सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी !

(भावों)

दाप के बचे विकास !
अनिल सा लोक लोक मे,
हर्ष मे, और शोक में,
कहाँ नहीं है प्रेम ? साँस या सबके उर मे !
यही तो है बचपन का हास
खिले यौवन का मधुप विलास,
प्रौढ़ता का वह बुद्धि विकास
जरा का अंतर्नयन प्रकाश ;

जन्मदिन का है यही हुलास,
मृत्यु का यही दीर्घ निःश्वास !

है यह वैदिक वाद ;
विश्व का सुख-दुखमय उन्माद !
एकतामय है इसका नाद—

गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव भाषण,
श्रवण तक आ जाता है मन,
स्वयं मन करता बात श्रवण !

अश्रुओं मे रहता है हास,
हास मे अश्रुकणों का भास ;
श्वास में छिपा हुआ उच्छ्वास,
और उच्छ्वासों ही में श्वास !

बँधे हैं जीवन-तार ;
सब में छिपी हुई है यह झंकार !
हो जाता संसार
नहीं तो दारुण हाहाकार !

अचल हो उठते है चंचल,
चपल बन जाते है अविचल !
पिघल पड़ते है पाहन दल,
कुलिश भी हो जाता कोमल !

मर्म पीड़ा के हास !
रोग का है उपचार ;
पाप का भी परिहार ;

है अदेह संदेह, नहीं है इसका कुछ संस्कार !
हृदय की है यह दुर्बल हार ! !

खीच लो इसको, कहीं क्या छोर है !
द्रौपदी का यह दुरंत दुकूल है !
फैलता है हृदय में नभ बेलि सा ,
खोज लो, इसका कही क्या मूल है ?

यही तो काँटे सा चुपचाप
उगा उस तरुवर में,—सुकुमार
सुमन वह था जिसमें अविकार—
बेध डाला मधुकर निष्पाप ! !
प्रणय में दुर्बलता है शाप ! !
देख हाय ! यह, उर से रह रह निकल रही है आह !
व्यथा का रुकता नही प्रवाह !

सिड़ी के गूढ़ हुलास !
बीनते है प्रसून दल ,
तोड़ते ही है मृदु फल ,
देखा नहीं किसी को चुनते कोमल कोंपल ! !
अभी पल्लवित हुआ था स्नेह ,
लाज का भी न गया था राग ;

पड़ा पाला सा हा ! सदेह ,
कर दिया वह नव राग विराग !
मिले थे मानस नभ अज्ञात ,
स्नेह शशि बिम्बित था भरपूर ;
अनिल सा कर अकरुण आघात ,
प्रेम प्रतिमा कर दी वह चूर ! !

बालकों का सा मारा हाथ,
कर दिए विकल हृदय के तार !
नहीं अब रुकती है झंकार,
यही था हा ! क्या एक सितार ?
हुई मरु की मरीचिका आज,
मुझे गंगा की पावन धार!

कहाँ है उत्कंठा का पार!!
इसी वेदना में विलीन हो अब मेरा संसार !
तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार !
टूट जा यहीं यह हृदय हार!!!

× × ×

कौन जान सका किसी के हृदय को ?
सच नहीं होता सदा अनुमान है!
कौन भेद सका अगम आकाश को ?
कौन समझ सका उदधि का गान है?

है सभी तो ओर दुर्बलता यही,
समझता कोई नहीं—क्या सार है !
निरपराधों के लिए भी तो अहा!
बन गया संसार कारागार है!!

सितम्बर, १९२१]

आँसू

(भादों की भरन)

(१)

अपलक आँखों में
उमड़ उर के सुरभित उच्छ्वास!
सजल जलधर से बन जलधार;
प्रेममय वे प्रिय पावस मास
पुनः नयनों में कर साकार;
मूक कणों की कातर वाणी भर इनमें अविकार,
दिव्य स्वर पा आँसू का तार
बहा दे हृदयोद्गार!

विरह है अथवा यह वरदान!
कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है!

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान;

उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान !

× × × ×

हाय, किसके उर में
उतारूँ अपने उर का भार !
किसे अब दूँ उपहार
गूँथ यह अश्रुकणों का हार ! !

मेरा पावस ऋतु सा जीवन,
मानस सा उमड़ा अपार मन;
गहरे धुँधले, धुले, साँवले,
मेघों-से मेरे भरे नयन !

कभी उर में अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगों-से हाय !
अरुण कलियों-से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय !

इन्द्रधनु सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी कुहरे सो धूमिल, घोर,
दीखती भावी चारों ओर !
तड़ित सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर,
जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान !

× × × ×

देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये ! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को;

नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर;
अकेली आकुलता सी, प्राण !
कही तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात !

देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूंघट बादल का
खोलती है कुमुद कला,

तुम्हारे ही मुख का ध्यान
मुझे करता तब अंतर्धान;
न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान !

× × ×

बादलों के छायामय मेल
घूमते है आँखों में, फैल !
अवनि औ' अंबर के वे खेल
शैल में जलद, जलद मे शैल !

शिखर पर विचर मरुत रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर,
मेमनों-से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर !

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर्-झर्;
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गंभीर घहर;
बिन्दुओं की छनती छनकार;
दादुरों के वे दुहरे स्वर;
हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल पावस के प्रश्नोत्तर !

(२)

करुण है हाय ! प्रणय,
नहीं दुरता है जहाँ दुराव;
करुणतर है वह भय,
चाहता है जो सदा बचाव ;
करुणतम भग्न हृदय,
नहीं भरता है जिसका घाव ;
करुण अतिशय उनका संशय,
छुड़ाते है जो जुड़े स्वभाव !!

किए भी हुआ कहाँ संयोग ?
टला टाले कब इसका वास ?
स्वयं ही तो आया यह पास,
गया भी, बिना प्रयास !

× × × ×

हाय ! मेरा जीवन ,
प्रेम औ, आँसू के कन !
आह, मेरा अक्षय धन ,
अपरिमित सुदरता औ' मन !

—एक वीणा की मृदु झंकार !
कहाँ है सुदरता का पार !
तुम्हे किस दर्पण में सुकुमारि !
दिखाऊँ मैं साकार ?

तुम्हारे छूने में था प्राण ,
संग मे पावन गंगा स्नान ;
तुम्हारी वाणी मे कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरों का गान !

अपरिचित चितवन में था प्रात ,
सुधामय साँसों मे उपचार ;
तुम्हारी छाया में आधार ,
सुखद चेष्टाओं मे आभार !

करुण भौंहों मे था आकाश ,
हास में शैशव का संसार ;
तुम्हारी आँखों में कर वास
प्रेम ने पाया था आकार !

कपोलों में उर के मृदु भाव ,
श्रवण नयनों में प्रिय बर्ताव ;
सरल सकेतों में संकोच ,
मृदुल अधरो मे मधुर दुराव !

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास;
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के साँस!

बिंदु मे थी तुम सिंधु अनंत,
एक स्वर में समस्त संगीत;
एक कलिका में अखिल वसंत,
धरा में थी तुम स्वर्ग पुनीत!

× × × ×

सुप्ति हो स्वल्प वियोग
नव मिलन को अनिमेष,
दैव! जीवन भर का विश्लेष...
मृत्यु ही है निःशेष!!

× × × ×

मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को,
थाम ले अब, हृदय! इस आह्वान को!
त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य, पावन स्थान को!

दिसम्बर, १९२१]

नारी रूप

घने लहरे रे रेशम के बाल,—
धरा है सिर में मैने देवि!
तुम्हारा यह स्वर्गिक शृंगार,
स्वर्ण का सुरभित भार!

मलिन्दों से उलझी गुजार,
मृणालों से मृदु तार;
मेघ से संध्या का संसार,
वारि से ऊर्मि उभार!
—मिले है इन्हें विविध उपहार
तपुख तम से विस्तार!

तुम्हारे रोम रोम से नारि!
मुझे है स्नेह अपार!
तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि!
मुझे है स्वर्गागार!

तुम्हारे गुण है मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता, ध्यान,
तुम्हारी पावनता, अभिमान,
शक्ति, पूजन सम्मान;

अकेली सुन्दरता कल्याणि!
सकल ऐश्वर्यों की संधान!
तुम्ही हो स्पृहा, अश्रु औ' हास,
सृष्टि के उर की साँस;
तुम्ही इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक आभास;
तुम्हारी सेवा मे अनजान
हृदय है मेरा अंतर्धान;
देवि! मा! सहचरि! प्राण!

मई, १६२२]

बादल

सुरपति के हम ही है अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर,
मेघदूत की सजल कल्पन,
चातक के प्रिय जीवनधर,
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकार,
विहग वर्ग के गर्भ विधायक,
कृषक बालिका के जलधर।

भूमि गर्भ मे छिप विहग-से
फैला कोमल, रोमिल पख,
हम असख्य अस्फुट बीजों मे
सेते सॉस, छुड़ा जड़ पंक!
विपुल कल्पना से त्रिभुवन को
विविध रूप धर, भर नभ अंक,
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते,
छा अनत उर में निःशंक!

कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नही धरते,

मत्त मतगज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते;
कभी कीश-से अनिल डाल मे
नीरवता से मुँह भरते,
बृहत् गृद्ध-से विहग छदों को
बिखराते नभ मे तरते!

कभी अचानक, भूतो का-सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क, कड़क जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार;
फिर परियों के बच्चों से हम
सुभग सीप के पख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में,
पकड़ इंदु के कर सुकुमार!

अनिल विलोड़ित गगन सिन्धु मे
प्रलय बाढ़ से चारों ओर
उमड़ उमड़ हम लहराते है
वरसा उपल, तिमिर घनघोर,
बात बात में, तूल तोम सा
व्योम विटप से झटक, झकोर,
हमें उड़ा, ले जाता जब द्रुत
दल वल युत घुस बातुल चोर!

व्योम विपिन में जब बसत सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
वहते हम तब अनिल स्रोत मे
गिर तमाल तम के से पात;

उदयाचल से बाल हंस फिर
उड़ता अंबर में अवदात,
फैल स्वर्ण पंखों से हम भी,
करते द्रुत मारुत से बात !

पर्वत से जल धूलि, धूलि से
पर्वत बन, पल मे, साकार—
काल चक्र-से चढ़ते, गिरते,
पल में जलधर, फिर जलधार,
कभी हवा में महल बना कर,
सेतु बाँध कर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव भूति ही से निस्सार !

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि वसन वसुधा के मूल;
नभ मे अवनि, अवनि मे अंबर,
सलिल भस्म मारुत के फल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल !

व्योम बेलि, ताराओं की गति,
चलते अचल, गगन के गान,
हम अपलक तारों की तंद्रा,
ज्योत्सना के हिम, शशि के यान,
पवन धेनु, रवि के पांशुल श्रम,
सलिल अनल के विरल वितान:

व्योम पलक, जल खग, बहते थल,
अंबुधि की कल्पना महान!

× × ×

धूम धुँआरे, काजर कारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदन राज के वीर बहादुर,
पावस के उड़ते फणिधर?
चमक झमकमय मंत्र वशीकर,
छहर घहरमय विष सीकर,
स्वर्ग सेतु-से इंद्रधनुषधर,
कामरूप घनश्याम अमर!

अप्रैल, १९२२]

सोने का गान

कहो हे प्रमुदित विहग कुमारि !
कहाँ से आया यह प्रिय गान ?
तुहिन वन में छाई सुकुमारि !
तुम्हारी स्वर्ण ज्वाल सी तान !

उषा की कनक मदिर मुसकान
उसी में था क्या यह अनजान ?
भला उठते ही तुमको आज
दिलाया किसने इसको ध्यान !
स्वर्ण पंखों की विहग कुमारि !
अमर है यह पुलकों का गान !

बिटप में थी तुम छिपी विहान ,
विकल क्यों हुए अचानक प्राण ?
छिपाओ अब न रहस्य कुमारि !
लगा यह किसका कोमल बाण ?
विजन वन में तुमने सुकुमारि !
कहाँ पाया यह मेरा गान ?

स्वप्न में आकर कौन सुजान
फूंक सा गया तुम्हारे कान ?

कनक कर बढ़ा बढ़ा कर प्रात
कराया किसने यह मधु पान?
मुझे लौटा दो, विहग कुमारि!
सजल मेरा सोने का गान

मार्च, १९२२]

मुसकान

कहेगे क्या मुझसे सब लोग
कभी आता है इसका ध्यान!
रोकने पर भी तो सखि! हाय,
नही रुकती है यह मुसकान!

विपिन मे पावस के से दीप
सुकोमल, सहसा, सौ सौ भाव
सजग हो उठते है उर बीच,
नही रख सकती तनिक दुराव!
कल्पना के ये शिशु नादान
हँसा देते है मुझे निदान!

तारकों से पलकों पर कूद
नीद हर लेते नव-नव भाव,
कभी बन हिमजल की लघु बूंद
बढ़ाते मुझसे चिर अपनाव;
गुदगुदाते ये तन, मन, प्राण,
नही रुकती तब यह मुसकान!

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,

वढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर, मुझको उस पार ;

नहीं रखती मैं जग का ज्ञान,
और हँस पड़ती हूँ अनजान !
रोकने पर भी तो सखि ! हाय,
नहीं रुकती तव यह मुसकान !

अगस्त, १६२२]

मधुकरी

सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान,
कुसुम के चुने कटोरों से
करा दो ना, कुछ-कुछ मधुपान !

नवल कलियों के धोरे झूम,
प्रसूनों के अधरों को चूम,
मुदित, कवि सी तुम अपना पाठ
सीखती हो सखि ! जग मे घूम;
सुना दो ना, तब हे सुकुमारि !
मुझे भी ये केसर के गान !

किसी के उर मे तुम अनजान
कभी बँध जाती, बन चितचोर ;
अधखिले, खिले, सुकोमल गान
गूँथती हो फिर उड़-उड़ भोर,
मुझे भी बतला दो न कुमारि !
मधुर निशि स्वप्नों के वे गान !

सूँघ चुन कर सखि ! सारे फूल,
सहज बिंध, बँध, निज सुख-दुख भूल,

सरस रचती हो ऐसा राग
धूल बन जाती है मधुमूल ;

पिला दो ना, तब हे सुकुमारि !
इसी से थोड़े मधुमय गान,
कुसुम के खुले कटोरों से
करा दो ना, कुछ-कुछ मधुपान !

सितम्बर, १९२२]

निर्झरी

यह कैसा जीवन का गान
अलि ! कोमल कल् मल् टल् मल् ?
अरी शैलबाले नादान !
यह निश्छल कल् कल् छल् छल् ?

झर् मर् कर पत्रों के पास,
रण मण रोड़ों पर सायास,
हँस-हँस सिकता से परिहास
करती तुम अविरल झलमल !

स्वर्ण बेलि सी खिली विहान,
निशि में तारो की सी यान,
रजत तार सी शुचि रुचिमान
फिरती तुम रंगिणि ! रल् मल् !

दिखा भंगिमय भृकुटिविलास,
उपलों पर बहु रंगी लास,
फैलाती हो फेनिल हास,
फूलो के कूलों पर चल !

अलि ! यह क्या केवल दिखलाव,
मूक व्यथा का मुखर भुलाव ?

अथवा जीवन का बहलाव ?
सजल आँसुओं की अंचल !

वही कल्पना है दिन-रात,
बचपन औ' यौवन की बात ;
सुख की वा दुख की ? अज्ञात !
उर अधरों पर है निर्मल !

सरल सलिल की सी कल तान
निखिल विश्व से निपट अजान,
विपिन रहस्यों की आख्यान !
गूढ़ बात है कुछ टल् मल् !

सितम्बर, १६२२]

नक्षत्र

ऐ निशि जाग्रत्, वासर निद्रित,
ऐ अनन्य छबि के समुदय,
स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय,
अश्रु हास, अनिमेष हृदय !

ऐ अनादि के वृत्त अनन्वय,
ऐ आतुर उर के सम्मान,
अब मेरी उत्सुक आँखों से
उमड़ो, —दिवस हुआ अवसान !

ऐ अनंत की अगम कल्पना,
ऐ अशब्द भारति अविषय,
आदि नग्न सौन्दर्य निरामय !
मुग्ध दृष्टि की चरम विजय !

स्वर्ण समय के स्मारक सुखमय,
संसृति के अविदित आख्यान,
अब पिपीलिका के विवरों से
निकलो, हे असंख्य, अम्लान !

ऐ अज्ञात देश के नाविक,
ऐ अनत के हृत्कंपन,

नव प्रभात के अस्फुट अंकुर,
निद्रा के रहस्य कानन !

ऐ सुखमय तब, आशामय अब,
ऐ मानस लोचन रुचिमान,
जागो हे, हाँ, धीरे, धीरे,
खोलो अलसित पलक सुजान !

ऐ अविदित युग के मुद्राकर,
ऐ विभूति के भग्न भवन,
अहे पुरातन हर्षोज्वल दिन,
ऐ नूतन निशि अश्रु नयन !

ऐ शाश्वत स्मित, ऐ ज्योतित स्मृति,
स्वप्नों के गतिहीन विमान !
गाओ हे, हाँ, व्योम विटप से
गाओ खग ! निज नीरव गान !

ऐ असंख्य भाग्यों के शासक,
ऐ असीम छबि के सावन,
ऐ अरण्य निशि के आश्वासन,
विश्व सुकवि के सजग नयन !

ऐ सुदूरता के सम्मोहन,
ऐ निर्जनता के आह्वान,
काल कुहू, मेरा दुर्गम मग
दीपित कर दो, हे द्युतिमान !

ऐ गभीर गंधर्व साम ध्वनि,
व्योम वेणु के नीरव लय,

सजग दिगंबर के चिर तांडव,
सुप्त विश्व के जीवाशय!

सूर सिन्धु, तुलसी के मानस,
मीरा के उल्लास अजान,
मेरे अधरों पर भी अंकित
कर दो यह स्वर्गिक मुसकान!

अहे अनभ्र गगन के जलकण,
ज्योति बीज, हिमजल के घन,
बीते दिवसों की समाधि हे,
प्रातः विस्मृत स्वप्न सघन!

अग्नि शस्य, रवि के चिह्नित पग,
म्लान दिवस के छिन्न वितान,
कह दो हे शशि के प्रिय सहचर,
निशानाथ दें दर्शन दान!

ऐ नश्वरता के लघु बुद्बुद,
काल चक्र के विद्युत् कन,
ऐ स्वप्नों के नीरव चुंबन,
तुहिन दिवस, आकाश सुमन!

नित वसंत, निशि के नंदन वन,
भावी दिवसों के जल यान,
खड़ी कुमुदिनी सी मैं कब से
नयन मूंद करती हूँ ध्यान!

अहे तिमिर चरते शशि शावक,
मूर्छित आतप, शीतानल,

दिवस स्रोत से दलित उपल दल,
स्वप्न नीड़, तम ज्योति धवल!

इंदु दीप से दग्ध शलभ शिशु,
शुचि उलूक, अब हुआ विहान,
अंधकारमय मेरे उर में
आओ, छिप जाओ अनजान!

मई, १९२२]

विश्व छवि

मुसकुराते गुलाब के फूल !
कहाँ पाया मेरा बचपन ?—
सुभग, मेरा भोला बचपन ?
ढुलकते हिमजल से लोचन,
अधखिला तन, अधखिला मन;
धूलि में भरा स्वभाव दुकूल,
मृदुल छवि, पृथुल सरलपन;
स्व-विस्मित से गुलाब के फूल,
तुम्ही सा था मेरा बचपन !

रँगीले मृदु गुलाब के फूल !
कहाँ पाया मेरा यौवन ?—
प्राण, मेरा प्यारा यौवन ?
रूप का खिलता हुआ उभार,
मधुर मधु का व्यापार,
चुभे उर मे सौ, सौ मृदु शूल,
खुले उत्सुक दृग द्वार;
हृदय ही से गुलाब के फूल,
तुम्ही सा है मेरा यौवन !

सहज प्रमुदित गुलाब के फूल !
कहाँ पाया ऐसा जीवन ?—

सुहृद, ऐसा स्वर्गिक जीवन !
कँटीली जटिल डाल में वास,
अधर आँखों में हास ;
झूलना झोंको के अनुकूल,
हृदय में दिव्य विकास ;
सजग कवि-से गुलाब के फूल,
तुम्हीं सा हो मेरा जीवन !

मलिन, मुरझे गुलाब के फूल !
सुकृति ही है, हाँ, आश्वासन,
सुमन, बस अंतिम आश्वासन !
किया तुमने सुरभित उद्यान,
दिया उर से मधुदान,
मिला है तुम्हें आज वह मूल,
लिया जिससे आधान ;
स्वप्न ही से गुलाब के फूल,
नव्य जीवन है आश्वासन !

धूलि धूसर गुलाव के फूल !
यही है पीला परिवर्तन,—
प्रतनु, यह पार्थिव परिवर्तन !
नवल कलियों में वह मुसकान
खिलेगी फिर अनजान ;
सभी दुहराएँगी यह गान,—
जन्म का है अवसान,
विश्व छवि से गुलाव के फूल,
करुण है पर यह परिवर्तन !

अप्रैल, १९२२]

निर्झर गान

शुभ्र निर्झर के झर् झर् पात !
कहाँ पाया वह स्वर्गिक गान ?
शृंगार के निर्मल नाद !
स्वरों का यह संधान ?

विजनता का सा विशद विषाद,
समय का सा संवाद
कर्म का सा अजस्र आह्वान
गगन का सा आह्लाद,
मूक गिरिवर के मुखरित ज्ञान !
भारती का सा अक्षय दान ?

सितारों के है गीत महान,
मोतियों के अमूल्य, अम्लान ;
फेन के अस्फुट, अचिर, वितान,
ओस के सरल, चटुल, नादान,
आँसुओं के अविरल, अनजान,
बालुका के गतिवान ;

कठिन उर के कोमल उद्घात,
अमर है यह गांधर्व विधान !

प्रणति मे है निर्वाण,
पतन मे अभ्युत्थान;
जलद ज्योत्स्ना के गात!
अटल हो यदि चरणो मे ध्यान;

शिलोच्चय के गौरव सघात,
विश्व है कर्म प्रधान!

अगस्त, १६२२]

विश्व वेणु

हाँ, हम मारुत के मधुर झकोर,
नील व्योम के अंचल छोर,
बाल कल्पना से अनजान
फिरते रहते है निशि भोर,
उर उर के प्रिय, जग के प्राण !

चारु नभचरों से वय हीन
अपनी ही मृदु छबि मे लीन,
कर सहसा शीतल भ्रू पात,
चंचलपन में ही आसीन,
हम पुलकित कर देते गात !

गुंजित कुंजों में सुकुमार
(भौरो के सुरभित अभिसार)
आ, जा, खोल, फेर स्वच्छंद
पत्रों के बहु छिद्रित द्वार,
हम क्रीड़ा करते सानंद !

चूम मौन कलियों का मान,
खिला मलिन मुख में मुसकान,

गूढ़ स्नेह का सा निःश्वास
पा कुसुमों से सौरभ दान,
रँग देते रज से आकाश!

छेड़ वेणु वन में आलाप,
जगा रेणु के लोड़ित साँप,
भय से पीले तरु के पात
भगा वावलों से वेआप,
करते नित नाना उत्पात!

अस्थिहीन जलदों के बाल
खींच, मींच औ' फेंक, उछाल,
रचते विविध मनोहर रूप
मार, जिला उनको तत्काल,
फैला माया जाल अनूप!

हर सुदूर से अस्फुट तान,
आकुल कर पथिकों के कान,
विश्व वेणु के से झंकार
हम जग के सुख दुखमय गान
पहुँचाते अनन्त के द्वार!

मार्च, १९२३]

वीचि विलास

अरी सलिल की लोल हिलोर !
यह कैसा स्वर्गीय हुलास ?
सरिता की चंचल दृग कोर !
यह जग को अविदित उल्लास ?
आ, मेरे मृदु अंग झकोर,
नयनों को निज छबि मे बोर,
मेरे उर में भर मधु रोर !

गूढ साँस सी यति गति हीन
अपनी ही कंपन में लीन,
सजल कल्पना सी साकार,
पुनः पुनः प्रिय, पुनः नवीन ;
तुम शैशव स्मिति सी सुकुमार,
मर्म रहित, पर मधुर अपार,
खिल पड़ती हो बिना विचार !

वारि बेलि सी फैल अमूल,
छा अपत्र सरिता के कूल,
विकसा औ' सकुचा नवजात
बिना नाल के फेनिल फूल ;

छुईमुई सी तुम पश्चात्
छूकर अपना ही मृदु गात,
मुरझा जाती हो अज्ञात!

स्वर्ण स्वप्न सी कर अभिसार
जल के पलकों पर सुकुमार,
फूट आप ही आप अजान
मधुर वेणु की सी झंकार;
तुम इच्छाओं सी असमान,
छोड़ चिह्न उर मे गतिवान,
हो जाती हो अंतर्धान!

मुग्धा की सी मृदु मुसकान
खिलते ही लज्जा से म्लान;
स्वर्गिक सुख की सी आभास
अतिशयता में अचिर; महान—
दिव्य भूति सी आ तुम पास,
कर जाती हो क्षणिक विलास,
आकुल उर को दे आश्वास!

ताल ताल मे थिरक अमंद,
सौ सौ छंदों में स्वछद
गाती हो निस्तल के गान,
सिधु गिरा सी अगम, अनंत;
इंदु करों से लिख अम्लान
तारो के रोचक आख्यान,
अंबर के रहस्य द्युतिमान!

चला मीन दृग चारों ओर,
गह-गह चंचल अंचल छोर,
रुचिर रुपहरे पंख पसार
अरी वारि की परी किशोर!
तुम जल थल में अनिलाकार
अपनी ही लघिमा पर वार,
करती हो बहु रूप विहार!

अग भंगि में व्योम मरोर,
भौहों में तारों के झोर
नचा, नाचती हो भर पूर;
तुम किरणों की बना हिंडोर;
निज अधरों पर कोमल क्रूर,
शशि से दीपित प्रणय कपूर
चाँदी का चुबन कर चूर!

खेल मिचौनी सी निशि भोर,
कुटिल काल का भी चित चोर,
जन्म मरण से कर परिहास,
बढ़ असीम की ओर अछोर;
तुम फिर फिर सुधि सी सोच्छ्वास
जी उठती हो बिना प्रयास,
ज्वाला सी, पाकर वातास!

मई, १९२३]

अनंग

अहे विश्व अभिनय के नायक !
अखिल सृष्टि के सूत्राधार !
उर उर के कंपन में व्यापक !
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार !
ऐ असीम सौन्दर्य सिंधु की
विपुल वीचियों के शृंगार !
मेरे मानस की तरंग मे
पुनः अनंग ! बनो साकार !

आदि काल में बाल प्रकृति जब
थी प्रसुप्त, मृतवत्, हतज्ञान,
शस्य शून्य वसुधा का अंचल,
निश्चल जलनिधि, रवि शशि म्लान,
प्रथम हास से, प्रथम अश्रु से,
प्रथम पुलक से, हे छविमान !
स्मृति से, विस्मय से तुम सहसा
विश्व स्वप्न मे खिले अजान !

भूल जगत के उर कंपन मे,
पुलकावलि मे हँस अविराम,
मृदुल कल्पनाओं से पोषित,
भावों से भूषित अभिराम ;

तुमने भौरो की गुंजित ज्या,
कुसुमों का लीलायुध थाम,
अखिल भुवन के रोम रोम में,
केशर शर भर दिए सकाम!

नव वसंत के सरस स्पर्श से
पुलकित वसुधा बारंबार
सिहर उठी स्मित शस्यावलि में,
विकसित चिर यौवन के भार;
फूट पड़ा कलिका के उर से
सहसा सौरभ का उद्गार,
गंध मुग्ध हो अंध समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार!

अगणित बाँहें बढ़ा उदधि ने
इंदु करों से आलिंगन
बदले, विपुल चटुल लहरों ने
तारों से फेनिल चुंबन;
अपनी ही छबि से विस्मित हो
जगती के अपलक लोचन
सुमनों के पलकों पर सुख से
करने लगे सलिल मोचन!

सौ सौ साँसों मे पत्रों की
उमड़ी हिमजल सस्मित भोर,
मूक विहग कुल के कंठों से
उठी मधुर संगीत हिलोर;
विश्व विभव सी बाल उषा की
उड़ा सुनहली अंचल छोर,

शत हर्षित ध्वनियों से आहत
वढ़ा गंधवह नभ की ओर !

शून्य शिराओं मे संसृति की
हुआ विचारों का सचार,
नारी के गंभीर हृदय का
गूढ़ रहस्य वना साकार;
मिला लालिमा में लज्जा की
छिपा एक निर्मल संसार,
नयनों में निःसीम व्योम औ'
उरोरुहों में सुरसरि धार!

अंबुधि के जल में अथाह छवि,
अंवर में उज्वल आह्लाद,
ज्योत्स्ना में अपनी अजानता,
मेघों में उदार संवाद;
विपुल कल्पनाएँ लहरों में,
तरु छाया में विरह विषाद,
मिली तृषा सरिता की गति में,
तम में अगम, गहन उन्माद!

मृगियों ने चंचल अवलोकन,
औ' चकोर ने निशाभिसार,
सारस ने मृदु ग्रीवालिंगन,
हंसों ने गति, वारि विहार;
पावस लास प्रमत्त शिखी ने,
प्रमदा ने सेवा, शृंगार,
स्वाति तृषा सीखी चातक ने,
मधुकर ने मादक गुंजार!

शून्य वेणु उर से तुम कितनी
छेड़ चुके तब से प्रिय तान,
यमुना की नीली लहरों में
बहा चुके कितने कल गान;
कहाँ मेघ औ' हंस ? किंतु तुम
भेज चुके संदेश अजान,
तुड़ा मरालों से मंदर धनु
जुड़ा चुके तुम अगणित प्राण!

जीवन के सुख दुख से सुरभित
कितने काव्य कुसुम सुकुमार,
करुण कथाओं की मृदु कलियाँ—
मानव उर के से शृंगार—
कितने छंदों में, तालों में,
कितने रागों में अविकार
फूट रहे नित अहे विश्वमय!
तब से जगती के उद्‌गार!

विपुल कल्पना से, भावों से,
खोल हृदय के सौ सौ द्वार,
जल, थल, अनिल, अनल, नभ से कर
जीवन को फिर एकाकार,
विश्व मच पर हास अश्रु का
अभिनय दिखला बारंबार,
मोह यवनिका हटा, कर दिया
विश्व रूप तुमने साकार!

हे त्रिलोकजित्! नव वसंत की
विकच पुष्प शोभा सुकुमार

सहम, तुम्हारे मृदुल करों में
झुकी धनुष सी है साभार;
वीर! तुम्हारी चितवन चंचल
विजय ध्वजा मे मीनाकार
कामिनि की अनिमेष नयन छबि
करती नित नव बल संचार!

बजा दीर्घ साँसो की भेरी,
सजा सटे कुच कलशाकार,
पलक पाँवड़े बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित प्रतिहार;
बाल युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बंदनवार,
देव! तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत उत्सुक दृग द्वार!

ए त्रिनयन की नयन वह्नि के
तप्त स्वर्ण! ऋषियों के गान!
नव जीवन! षड्ऋतु परिवर्तन!
नव रसमय! जगती के प्राण!
ऐ असीम सौन्दर्य राशि में
हृत्कंपन से अंतर्धान!
विश्व कामिनी की पावन छबि
मुझे दिखाओ, करुणावान!

सितम्बर, १९२३]

शिशु

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम ?
अये अभिनव, अभिराम !

मृदुलता ही है बस आकार !
मधुरिमा—छबि, शृंगार ;
न अंगों में है रंग, उभार,
न मृदु उर में उद्गार ;
निरे साँसों के पिंजर द्वार !
कौन हो तुम अकलंक, अकाम ?

कामना से मा की सुकुमार
स्नेह मे चिर साकार ;
मृदुल कुड्मल से, जिसे न ज्ञात
सुरभि का निज संसार ;
स्रोत से नव, अवदात,
स्खलित अविदित पथ पर अविचार ;
कौन तुम गूढ़, गहन, अज्ञात !
अहे निरुपम, नवजात !

खेलती अधरों पर मुसकान,
पूर्व सुधि सी अम्लान ;

सरल उर की सी मृदु आलाप,
अनवगत जिसका गान;
कौन सी अमर गिरा यह, प्राण !
कौन से राग, छंद, आख्यान ?
स्वप्न लोकों मे किन चुपचाप
विचरते तुम इच्छा-गतिवान !

न अपना ही, न जगत का ज्ञान,
न परिचित है निज नयन, न कान;
दीखता है जग कैसा तात !
नाम, गुण, रूप अजान ?
तुम्हीं सा हूँ मै भी अज्ञात,
वत्स ! जग है अज्ञेय महान !

नवम्बर, १९२३]

मौन निमंत्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना मे जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते है जब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन!

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस धार;
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन!

देख वसुधा का यौवन भार
गूंज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,
न जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन!

क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात
सिंधु में मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने, मुझे बुलाता मौन!

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग कुल की कल कंठ हिलोर
मिला देती भू नभ के छोर;
न जाने, अलस पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन!

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर कुल की झनकार
कँपा देती तंद्रा के तार;
न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन!

कनक छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुंजार;
न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन!

दिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,

शून्य शय्या में, श्रमित अपार,
जुड़ाता जब मै आकुल प्राण ;
न जाने, मुझे स्वप्न मे कौन
फिराता छाया जग मे मौन !

न जाने कौन, अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान
फूँक देते छिद्रों मे गान ;
अहे सुख दुख के सहचर मौन !
नही कह सकता तुम हो कौन !

नवम्बर, १९२३]

परिवर्त्तन

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगंत छबि जाल,
ज्योति चुंबित जगती का भाल ?

राशि राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार ?
स्वर्ग की सुखमा जब साभार
धरा पर करती थी अभिसार !
प्रसूनों के शाश्वत शृंगार,
(स्वर्ण भृंगो के गंध विहार)
गूंज उठते थे बारंबार,
सृष्टि के प्रथमोद्‌गार !
नग्न सुंदरता थी सुकुमार,
ऋद्धि औ' सिद्धि अपार !

अये, विश्व का स्वर्ण स्वप्न, संसृति का प्रथम प्रभात,
कहाँ वह सत्य, वेद विख्यात ?
दुरित, दुख, दैन्य न थे जब ज्ञात,
अपरिचित जरा मरण भ्रू पात !

(२)

हाय ! सब मिथ्या बात !—
आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस !

वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता मे निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार !

आज पावस नद के उद्गार
काल के बनते चिह्न कराल;
प्रात का सोने का संसार
जला देती संध्या की ज्वाल !

अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल,
कचों के चिकने, काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार;
गूँजते है सब के दिन चार,
सभी फिर हाहाकार !

(३)

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात !
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अंधकार अज्ञात !

शिशिर सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल !
प्रणय का चुंबन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल !

मृदुल होंठों का हिमजल हास
उड़ा जाता निःश्वास समीर,
सरल भौंहों का शरदाकाश
घेर लेते घन, घिर गंभीर !

शून्य साँसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अधर मधुर संयोग,
मिलन के पल केवल दो, चार,
विरह के कल्प अपार !

अरे, वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय
उठे रोओं के आलिगन
कसक उठते काँटों से हाय !

(४)

किसी को सोने के के सुख साज
मिल गए ऋण भी यदि कुछ आज ;
चुका लेता दुख कल ही व्याज,
काल को नहीं किसी की लाज !

विपुल मणि रत्नों का छवि जाल,
इंद्रधनु की सी छटा विशाल—
विभव की विद्युत ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल ;

मोतियों जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार !

(५)

खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण ;
अभी उत्सव औ' हास हुलास,
अभी अवसाद, अश्रु, उच्छ्वास !
अचरिता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास,
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश ;
सिसक उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उडुगन !

(६)

अहे निष्ठुर परिवर्तन !
तुम्हारा हो तांडव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन !
अहे वासुकि सहस्र फन !

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे है जग के विक्षत वक्षःस्थल पर !
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर,

अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुंडल
दिङ् मंडल !

(७)

अहे दुर्जेय विश्वजित् !
नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इंद्रासन तल माथ ;
घूमते शत शत भाग्य अनाथ,
सतत रथ के चक्रों के साथ !

तुम नृशंस नृप से जगती पर चढ़ अनियंत्रित ;
करते हो संसृति को उत्पीड़ित पद मर्दित,
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर संचित !
आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात, उत्पात, अमंगल,
वह्नि, बाढ़, भूकंप,—तुम्हारे विपुल सैन्य दल,
अहे निरकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल
हिल हिल उठता है टल मल
पद दलित धरा तल !

(८)

जगत का अविरत हृत्कंपन
तुम्हारा ही भय सूचन ;
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमंत्रण !
विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिल काल कृमि से घुस पल पल ;

तुम्ही स्वेद सिंचित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते, वर्षोपल बन, वांछित कृषिफल!
अये, सतत ध्वनि स्पंदित जगती का दिङ् मंडल
नैश गगन सा सकल
तुम्हारा ही समाधि स्थल!

(९)

काल का अकरुण भृकुटि विलास
तुम्हारा ही परिहास ;
विश्व का अश्रु पूर्ण इतिहास
तुम्हारा ही इतिहास !
एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर!
भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध, शृंगवर,
नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य—भूति के मेघाडंबर!

अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भूकंपन,
गिर गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों से उड़गन!
आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत शत फन,
मुग्ध भुजंगम सा, इंगित पर करता नर्तन!
दिक्पिजर मे बद्ध, गजाधिप सा विनतानत,
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन!

(१०)

जगत की शत कातर चीत्कार
बेधती बधिर ! तुम्हारे कान!

अश्रु स्रोतों की अगणित धार
सींचतीं उर पाषाण !

अरे क्षण क्षण सौ सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश !
चतुर्दिक् घहर घहर आक्रांति
ग्रस्त करती सुख शांति !

(११)

हाय री दुर्बल भ्रांति ! —
कहाँ नश्वर जगती में शांति !
सृष्टि ही का तात्पर्य अशांति !
जगत अविरत जीवन संग्राम,
स्वप्न है यहाँ विराम !

एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजन वन !
—यही तो है असार संसार,
सृजन, सिंचन, संहार !

आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार,
रत्न दीपावलि, मंत्रोच्चार ;
उलूको के कल भग्न विहार,
झिल्लियों की झनकार !
दिवस निशि का यह विश्व विशाल
मेघ मारुत का माया जाल !

(१२)

अरे, देखो इस पार—
दिवस की आभा मे साकार

दिगंबर, सहम रहा संसार !
हाय ! जग के करतार !!

प्रात ही तो कहलाई मात,
पयोधर बने उरोज उदार,
मधुर उर इच्छा को अज्ञात
प्रथम ही मिला मृदुल आकार,
छिन गया हाय ! गोद का बाल,
गड़ी है बिना बाल की नाल !

अभी तो मुकुट बंधा था माँथ,
हुए कल ही हलदी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल;
खिले भी चुबन शून्य कपोल;
हाय ! रुक गया यही ससार
बना सिदूर अँगार;
वात हत लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार !!

(१३)

काँपता उधर दैन्य निरुपाय,
रज्जु सा, छिद्रो का कृश काय !
न उर मे गृह का तनिक दुलार,
उदर ही में दानों का भार !
भूंकता सिड़ी शिशिर का श्वान
चीरता हरे ! अचीर शरीर;
न अधरों में स्वर, तन में प्राण,
न नयनों ही मे नीर !

(१४)

सकल रोओं से हाथ पसार
लूटता इधर लोभ गृह द्वार,
उधर वामन डग स्वेच्छाचार
नापता जगती का विस्तार;
टिड्डियों सा छा अत्याचार
चाट जाता ससार!

(१५)

बजा लोहे के दंत कठोर
नचाती हिंसा जिह्वा खोल;
भृकुटि के कुंडल वक्र मरोर
फुहुँकता अंध रोष फन खोल!
लालची गीधों से दिन रात,
नोचते रोग शोक नित गात,
अस्थि पंजर का दैत्य दुकाल
निगल जाता निज वाल!

(१६)

बहा नर शोणित मूसलधार,
रुंड मुडों की कर बौछार,
प्रलय घन सा घिर भीमाकार
गरजता है दिगंत संहार;
छेड़ खर शस्त्रो की झनकार
महाभारत गाता संसार!

कोटि मनुजों के निहत अकाल,
नयन मणियों से जटित कराल

अरे दिग्गज सिंहासन जाल
अखिल मृत देशों के कंकाल;
मोतियों के तारक लड़ हार
आँसुओं के शृंगार!

(१७)

रुधिर के है जगती के प्रात,
चितानल के ये सायंकाल;
शून्य निःश्वासों के आकाश,
आँसुओं के ये सिन्धु विशाल!
यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग है जग का कंकाल!!
वृथा रे, ये अरण्य चीत्कार,
शांति, सुख है उस पार!

(१८)

आह भीषण उद्गार!—
नित्य का यह अनित्य नर्तन,
विवर्तन जग, जग व्यावर्तन,
अचिर में चिर का अन्वेषण
विश्व का तत्त्वपूर्ण दर्शन!
अतल से एक अकूल उमंग,
सृष्टि की उठती तरल तरंग,
उमड़ शत शत बुद्बुद संसार
बूड़ जाते निस्सार!
बना सैकत के तट अतिवात
गिरा देती अज्ञात!

(१९)

एक छवि के असंख्य उडुगन,
एक ही सब में स्पंदन;
एक छवि के विभात में लीन,
एक विधि के रे नित्य अधीन!
एक ही लोल लहर के छोर
उभय सुख दुख, निशि भोर;
इन्हीं से पूर्ण त्रिगुण संसार,
सृजन ही है, संहार!

मूँदती नयन मृत्यु की रात
खोलती नव जीवन की प्रात,
शिशिर की सर्व प्रलयकर वात
बीज बोती अज्ञात!
म्लान कुसुमों की मृदु मुसकान
फलो मे फलती फिर अम्लान,
महत् है, अरे, आत्म बलिदान,
जगत केवल आदान प्रदान!

(२०)

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा मे शिव अविकार;
स्वरों में ध्वनित मधुर, सुकुमार
सत्य ही प्रेमोद्गार;
दिव्य सौन्दर्य, स्नेह साकार,
भावनामय संसार!

(२१)

स्वीय कर्मो ही के अनुसार
एक गुण फलता विविध प्रकार ;
कही राखी बनता सुकुमार,
कही बेड़ी का भार !

(२२)

कामनाओ के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की झंकार,
स्फूर्ति करते संचार,

चूम सुख दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार !

पिघल होंठों का हिलता हास
दृगों को देता जीवन दान,
वेदना ही मे तपकर प्राण
दमक, दिखलाते स्वर्ण हुलास !

तरसते है हम आठों याम,
इसी से सुख अति सरस, प्रकाम ;
झेलते निशि दिन का संग्राम
इसी से जय अभिराम ;
अलभ है इष्ट, अतः अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल !

(२३)

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार ;

दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार!

(२४)

आज का दुख, कल का आह्लाद,
और कल का सुख, आज विषाद;
समस्या स्वप्न गूढ ससार
पूर्ति जिसकी उस पार,
जगत जीवन का अर्थ विकास,
मृत्यु, गति-क्रम का ह्रास!

(२५)

हमारे काम न अपने काम,
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे, निज छाया मे उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप,
गँवाने आए है अज्ञात
गँवा कर पाते स्वीय स्वरूप!

(२६)

जगत की सुदरता का, चांद
सजा लाछन को भी अवदात,
सुहाता बदल, बदल, दिनरात,
नवलता ही जग का आह्लाद!

(२७)

स्वर्ण शैशव स्वप्नो का जाल,
मजरित यौवन, सरस रसाल,

प्रौढ़ता, छाया, वट सुविशाल ;
स्थविरता, नीरव सायंकाल ;

वही विस्मय का शिशु नादान
रूप पर मँडरा, बन गुजार,
प्रणय से बिध, बँध, चुन चुन सार,
मधुर जीवन का मधु कर पान,
साध अपना मधुमय ससार
डुबा देता निज तन, मन प्राण !

एक बचपन ही मे अनजान
जागते, सोते, हम दिनरात ;
वृद्ध बालक फिर एक प्रभात
देखता नव्य स्वप्न अज्ञात ;

मूंद प्राचीन मरन,
खोल नूतन जीवन !

(२८)

विश्वमय हे परिवर्तन !
अतल से उमड़ अकूल, अपार,
मेघ से विपुलाकार,
दिशावधि मे पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार !

अहे अनिर्वचनीय ! रूप धर भव्य, भयकर,
इंद्रजाल सा तुम अनंत में रचते सुदर,
गरज गरज, हँस हँस, चढ़ गिर, छा ढा, भू अंबर,
करते जगती को अजस्र जीवन से उर्वर,
अखिल विश्व की आशाओ का इंद्रचाप वर
अहे तुम्हारी भीम भृकुटी पर
अटका निर्भर !

(२९)

एक औं' बहु के बीच अजान
घूमते तुम नित चक्र समान,
जग के उर मे छोड़ महान
गहन चिह्नो मे ज्ञान !
परिवर्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरंतर,
अभिनय करते विश्व मंच पर तुम मायाकर !
जहाँ हास के अधर, अश्रु के नयन करुणतर
पाठ सीखते सकेतों मे प्रकट, अगोचर,
शिक्षास्थल यह विश्व मच, तुम नायक नटवर,
प्रकृति नर्तकी सुघर
अखिल मे व्याप्त सूत्रधर !

(३०)

हमारे निज सुख, दुख, निःश्वास
तुम्हें केवल परिहास ;
तुम्हारी ही विधि पर विश्वास !
हमारा चिर आश्वास !

ऐ अनंत हृत्कंप ! तुम्हारा अविरत स्पदन
सृष्टि शिराओं में संचारित करता जीवन ;
खोल जगत के शत शत नक्षत्रो से लोचन,
भेदन करते अधकार तुम जग का क्षण क्षण,
सत्य तुम्हारी राज यष्टि, सम्मुख नत त्रिभुवन,
भूप, अकिंचन,
अटल शास्ति नित करते पालन !

(३१)

तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
हमारा भ्रम, मिथ्याहंकार;
तुम्हीं में निराकार साकार,
मृत्यु जीवन सब एकाकार!

अहे महांबुधि! लहरों से शत लोक, चराचर,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर;
तुग तरंगों से शत युग, शत शत कल्पांतर
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर;

शत सहस्र रवि शशि, असंख्य ग्रह उपग्रह, उडुगण,
जलते, बुझते हैं स्फुलिग से तुम में तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल—दिशावधि, कर्म, बचन, मन,
तुम्ही चिरंतन
अहे विवर्तन हीन विवर्तन!

अप्रैल, १९२४]

शिशु भावना

आज शिशु के कवि को अनजान
मिल गया अपना गान !

खोल कलियों ने उर के द्वार
दे दिया उसको छवि का देश ;
बजा भौंरों ने मधु के तार
कह दिए भेद भरे सदेश ,

आज सोये खग को अज्ञात
स्वप्न में चौंका गई प्रभात ,
गूढ़ संकेतो मे हिल पात
कह रहे अस्फुट वात ;
आज कवि के चिर चंचल प्राण
पा गए अपना गान !

दूर, उन खेतों के उस पार ,
जहाँ तक गई नील झंकार ,
छिपा छाया वन में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार ,

वही, उन पेड़ो मे अज्ञान
चांद का है चाँदी का वाम ,

वही से खद्योतों के साथ
स्वप्न आते उड़ उड़ कर पास!
इन्ही में छिपा कही अनजान
मिला कवि को निज गान!

जनवरी, १६२६]

लोगी मोल ?

लाई हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
तरल तुहिन वन का उल्लास
लोगी मोल, लोगी मोल ?

फैल गई मधु ऋतु की ज्वाल,
जल जल उठती वन की डाल,
कोकिल के कुछ कोमल बोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

उमड़ पड़ा पावस परिप्रोत,
फूट रहे नव नव जल स्रोत;
जीवन की ये लहरें लोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

विरल जलद पट खोल अजान
छाई शरद रजत मुसकान,
यह छवि की ज्योत्स्ना अनमोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

अधिक अरुण है आज सकाल—
चहक रहे जग जग खग बाल;
चाहो तो सुन लो जी खोल
कुछ भी आज न लूंगी मोल !

अप्रैल, १९२७]

गीत खग !

(क)

तेरा कैसा गान,
विहंगम ! तेरा कैसा गान ?
न गुरु से सीखे वेद पुराण,
न षड्दर्शन, न नीति विज्ञान ;
तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान,
काव्य, रस, छंदों की पहचान ?
न पिक प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर, मनन, शकुनि नादान !

हँसते हैं विद्वान,
गीत खग, तुझ पर सब विद्वान !
दूर छाया तरु वन मे वास,
न जग के हास अश्रु ही पास ;
अरे, दुस्तर जग का आकाश,
गूढ रे छाया ग्रथित प्रकाश ;
छोड पंखों की शून्य उड़ान,
वन्य खग ! विजन नीड के गान !

(ख)

मेरा कैसा गान,
न पूछो मेरा कैसा गान !

भावी पत्नी के प्रति

प्रिये, प्राणो की प्राण !
न जाने किस गृह मे अनजान
छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान !
नवल कलिकाओ की सी वाण,
बाल रति सी अनुपम, असमान—
न जाने, कौन, कहाँ, अनजान,
प्रिये, प्राणो की प्राण !

जननि अंचल मे झूल सकाल
मृदुल उर कंपन की वपुमान ;
स्नेह सुख मे बढ़, सखि ! चिरकाल
दीप की अकलुष शिखा समान ;
कौन सा आलय, नगर विशाल
कर रही तुम दीपित, द्युतिमान !
शलभ चंचल मेरे मन प्राण,
प्रिये, प्राणो की प्राण !

नवल मधुऋतु निकुंज मे प्रात
प्रथम कलिका सी अस्फुट गात,
नील नभ अंतःपुर मे, तन्वि !
दूज की कला सदृश नवजात,

मधुरता मृदुता सी तुम, प्राण !
न जिसका स्वाद स्पर्श कुछ ज्ञात ;
कल्पना हो, जाने, परिमाण ?
प्रिये, प्राणों की प्राण !

हृदय की पलको मे गति हीन
स्वप्न ससृति सी सुखमाकार ;
बाल भावुकता बीच नवीन
परी सी धरती रूप अपार ;
झूलती उर में आज, किशोरि !
तुम्हारी मधुर मूर्ति छबिमान,
लाज मे लिपटी उषा समान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

मुकुल मधुपों का मृदु मधुमास,
स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ का सार,
मनोभावों का मधुर विलास,
विश्व सुखमा ही का ससार
दृगो में छा जाता सोल्लास
व्योम बाला का शरदाकाश ;
तुम्हारा आता जब प्रिय ध्यान,
प्रिये, प्राणो की प्राण !

अरुण अधरों की पल्लव प्रात,
मोतियों सा हिलता हिम हास ;
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल विद्युत् का पावस लास ;
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अंगों का मधुमास,

तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये, प्राणों की प्राण !

खेल सस्मित सखियों के साथ
सरल शैशव सी तुम साकार,
लोल कोमल लहरों मे लीन
लहर ही सी कोमल, लघु भार,
सहज करती होगी, सुकुमारि !
मनोभावों से बाल विहार,
हंसिनी सी सर मे कल तान ;
प्रिये, प्राणों की प्राण !

खोल सौरभ का मृदु कच जाल
सूंघता होगा अनिल समोद,
सीखते होंगे उड़ खग बाल
तुम्ही से कलरव, केलि, विनोद .
चूम लघु पद चचलता, प्राण !
फूटते होंगे नव जल स्रोत,
मुकुल बनती होगी मुसकान,
प्रिये, प्राणो की प्राण !

मृदूर्मिल सरसी मे सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज समान,
मुग्ध कवि के उर के छू तार
प्रणय का सा नव व्याकुल गान ;
तुम्हारे शैशव मे, सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण :
स्वप्न सा विस्मय सा अम्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात !
विकंपित मृदु उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप,
जड़ित पद, नमित पलक दृग पात,
पास जब आ न सकोगी, प्राण !
मधुरता मे सी मरी अजान;
लाज की छुईमुई सी म्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

सुमुखि, वह मधु क्षण ! वह मधुवार !
धरोगी कर मे कर सुकुमार !
निखिल जब नर नारी ससार
मिलेगा नव सुख से नव बार,
अधर उर से उर अधर समान,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अरे, चिर गूढ़ प्रणय आख्यान !
जब कि रुक जावेगा अनजान
साँस सा नभ उर मे पवमान,
समय निश्चल, दिशि पलक समान;
अवनि पर झुक आवेगा, प्राण !
व्योम चिर विस्मृति से म्रियमाण;
नील सरसिज सा हो हो म्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अप्रैल, १९२७]

मधु स्मिति

मुसकुरा दी थी क्या तुम, प्राण !
मुसकुरा दी थी आज विहान ?
आज गृह वन उपवन के पास
लोटता राशि राशि हिम हास,
खिल उठी आँगन में अवदात
कुंद कलियों की कोमल प्रात !
मुसकुरा दी थी, बोलो, प्राण !
मुसकुरा दी थी तुम अनजान ?

आज छाया चहुँदिशि चुपचाप
मृदुल मुकुलों का मौनालाप,
रुपहली कलियों से कुछ लाल,
लद गई पुलकित पीपल डाल;
और, वह पिक की मर्म पुकार
प्रिये ! झर झर पड़ती साभार,
लाज से गड़ी न जाओ, प्राण !
मुसकुरा दी क्या आज विहान !

अक्तूबर, १९२७]

मन विहग

तुम्हारी आँखों का आकाश,
सरल आँखो का नीलाकाश—
खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि ! इनमे खग अज्ञान !

देख इनका चिर करुण प्रकाश,
अरुण कोरों मे उषा विलास,
खोजने निकला निभृत निवास,
पलक पल्लव प्रच्छाय निवास,
न जाने ले क्या क्या अभिलाष
खो गया बाल विहग नादान !

तुम्हारे नयनो का आकाश
सजल, श्यामल, अकूल आकाश !
गूढ़, नीरव, गंभीर प्रसार,
न गहने को तृण का आधार

बसाएगा कैसे संसार,
प्राण ! इनमे अपना संसार !
न इनका ओर छोर रे पार,
खो गया वह नव पथिक अजान !

अक्तूबर, १६२७]

प्रेम नीड़

नवल मेरे जीवन की डाल
बन गई प्रेम विहग का वास!
आज मधुवन की उन्मद वात
हिला रे गई पात सा गात,
मद्र द्रुम मर्मर सा अज्ञात
उमड़ उठता उर मे उच्छ्वास!
नवल मेरे जीवन की डाल
बन गई प्रेम विहग का वास!

मदिर कोरों से कोरक जाल
वेधते मर्म बार रे बार,
मूक चिर प्राणों का पिक बाल
आज कर उठता करुण पुकार;
अरे अब जल जल नवल प्रवाल
लगाते रोम रोम में ज्वाल,
आज बौरे रे तरुण रसाल
भौर मन मँडरा, गई सुवास!

मार्च, १९२८]

आज नव मधु की प्रात
झलकती नभ पलकों में प्राण!
मुग्ध यौवन के स्वप्न समान,
झलकती, मेरी जीवन स्वप्न! प्रभात
तुम्हारी मुख छबि सी रुचिमान!

आज लोहित मधु प्रात
व्योम लतिका में छायाकार
खिल रही नव पल्लव सी लाल,
तुम्हारे मधुर कपोलों पर सुकुमार
लाज का ज्यों मृदु किसलय जाल!

आज उन्मद मधु प्रात
गगन के इदीवर से नील,
झर रही स्वर्ण मरंद समान,
तुम्हारे शयन शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण!

आज स्वर्णिम मधु प्रात
व्योम के विजन कुंज में, प्राण!
खुल रही नवल गुलाव समान,

लाज के विनत वृन्त पर ज्यों अभिराम
तुम्हारा मुख अरविन्द सकाम !

प्रिये, मुकुलित मधु प्रात
मुक्त नभ वेणी मे सोभार
सुहाती रक्त पलाश समान ;
आज मधुवन मुकुलो में झुक साभार
तुम्हे करता निज विभव प्रदान !

× × × ×

डोलने लगी मधुर मधुवात
हिला तृण, व्रतति, कुंज तरु पात,
डोलने लगी प्रिये ! मृदु वात
गुज - मधु - गंध - धूल - हिम - गात !
खोलने लगी, शयित चिरकाल,
नवल कलि अलस पलक दल जाल,

वोलने लगी, डाल से डाल
प्रमुद, पुलकाकुल कोकिल वाल !
युवाओं का प्रिय पुष्प गुलाव,
प्रणय स्मृति चिह्न, प्रथम मधुवाल,
खोलता लोचन दल मदिराभ,
प्रिये, चल अलि दल से वाचाल !

आज मुकुलित कुसुमित सब ओर
तुम्हारी छबि की छटा अपार,
फिर रहे उन्मद मधु प्रिय भौर
नयन, पलकों के पंख पसार !

तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार
लग गई मधु के वन में ज्वाल,

खड़े किंशुक, अनार, कचनार
लालसा की लौ से उठ लाल!

कपोलों की मदिरा पी, प्राण!
आज पाटल गुलाब के जाल,
विनत शुक नासा का धर ध्यान
बन गए पुष्प पलाश अराल!

तुम्हारी पी मुख वास तरंग
आज बौरे भौरे, सहकार,
चुनाती नित लवंग निज अंग
तन्वि! तुम सी बनने सुकुमार!
लालिमा भर फूलों में, प्राण!
सीखती लाजवती मृदु लाज,
माधवी करती झुक सम्मान
देख तुम में मधु के सब साज!

नवेली बेला उर की हार,
मोतिया मोती की मुसकान
मोगरा कर्णफूल सा स्फार,
अँगुलियाँ मदनबान की बान!
तुम्हारी तनु तनिमा लघ भार
बनी मृदु व्रतति प्रतति का जाल,
मृदुलता सिरिस मुकुल सुकुमार,
विपुल पुलकावलि चीना डाल!

प्रिये, कलि कुसुम कुसुम में आज
मधुरिमा मधु सुखमा सुविकास,
तुम्हारी रोम रोम छबि व्याज
छा गया मधुवन मे मधुमास!

× × × ×

वितरती गृह वन मलय समीर
साँस, सुधि, स्वप्न, सुरभि, सुख, गान ;
मार केशर शर मलय समीर
हृदय हुलसित कर, पुलकित प्राण !
बेलि सी फैल फैल नवजात
चपल, लघु पद, लहलह, सुकुमार,
लिपट लगती मलयानिल गात
झूम, झुक झुक सौरभ के भार !

आज, तृण, छद, खग, मृग, पिक, कीर,
कुसुम, कलि, व्रतति, विटप, सोच्छ्वास,
अखिल, आकुल, उत्कलित, अधीर,
अवनि, जल, अनिल, अनल, आकाश !

आज वन मे पिक, पिक मे गान,
विटप में कलि, कलि में सुविकास,
कुसुम में रज, रज मे मधु, प्राण !
सलिल में लहर, लहर में लास !
देह में पुलक, उरों मे भार,
भ्रुवों में भंग, दृगों में बाण,
अधर में अमृत, हृदय मे प्यार,
गिरा में लाज, प्रणय में मान !

तरुण विटपों से लिपट सुजात,
सिहरतीं लतिका मुकुलित गात,
सिहरतीं रह रह सुख से, प्राण !
लोम लतिका बन कोमल गात !
गंध गुंजित कुंजों में आज,
बँधे बाँहों में छायाऽलोक,

मर्मरित छत्र, पत्र दल व्याज
लिये द्रुम, तुमको खड़ी विलोक !

मिल रहे नवल बेलि तरु, प्राण !
शुकी शुक, हंस हंसिनी संग,
लहर सर, सुरभि समीर, विहान,
मृगी मृग, कलि अलि, किरण पतंग !

× × × ×

आज तन तन, मन मन हों लीन,
प्राण ! सुख सुख, स्मृति स्मृति चिर सात्,
एक क्षण, अखिल दिशावधि हीन,
एक रस, नाम रूप अज्ञात !

अगस्त, १९३०]

गृह काज

आज रहने दो यह गृह काज,
प्राण! रहने दो यह गृह काज!

आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ श्लथ उच्छ्वास,
प्रिये लालस सालस वातास
जगा रोओं में सौ अभिलाष!

आज उर के स्तर स्तर में, प्राण!
सजग सौ सौ स्मृतियाँ सुकुमार,
दृगों में मधुर स्वप्न संसार,
मर्म में मदिर स्पृहा का भार!
शिथिल, स्वप्निल पंखड़ियाँ खोल
आज अपलक कलिकाएँ बाल,
गूँजता भूला भौंरा डोल
सुमुखि! उर के सुख से वाचाल!

आज चंचल चंचल मन प्राण,
आज रे शिथिल शिथिल तन भार!
आज दो प्राणों का दिनमान,
आज संसार नहीं संसार!

आज क्या प्रिये, सुहाती लाज!
आज रहने दो सब गृह काज!

फ़रवरी, १९३२]

संध्या

कौन, तुम रूपसि, कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छबि में आप,
सुनहला फैला केश कलाप,—
मधुर, मंथर, मृदु, मौन !

मूंद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष, पदों मे चाप,
भाव संकुल, बंकिम, भ्रू चाप,
मौन, केवल तुम मौन !
ग्रीव तिर्यक्, चम्पक द्युति गात,
नयन मुकुलित, नत मुख जलजात,
देह छबि छाया मे दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?

अनिल पुलकित स्वर्णाचल लोल,
मधुर नूपुर ध्वनि खग कुल रोल ;
सीप से जलदों के पर खोल,
उड़ रही नभ मे मौन !
लाज से अरुण अरुण सुकपोल,

मदिर अधरों की सुरा अमोल,—
बने पावस घन स्वर्ण हिंदोल,
कहो, एकाकिनि, कौन!
मधुर, मंथर तुम मौन!

१९३०]

चारवायु

प्राण ! तुम लघु लघु गात !
नील नभ के निकुज में लीन ,
नित्य नीरव, नि:संग नवीन ,
निखिल छबि की छबि ! तुम छबिहीन,
अप्सरी सी अज्ञात !

अधर मर्मर युत, पुलकित अंग ,
चूमती चल पद चपल तरंग ,
चटकती कलियाँ पा भ्रूभंग ,
थिरकते तृण, तरु पात !
हरित द्युति चचल अंचल छोर ,
सजल छबि, नील कंचु, तन गौर ,
चूर्ण कच, साँस सुगंध भकोर ,
परों में साय प्रात !

विश्व हृद् शतदल निभृत निवास ,
अहर्निश साँस साँस में लास ,
अखिल जग जीवन हास विलास ,
अदृश्य, अस्पृश्य, अजात !

१९३०]

प्रार्थना

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन!
बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय धन;
स्मित स्वप्न अधर पलकों में,
उर अंगों में सुख यौवन!

छू छू जग के मृत रजकण
कर दो तृण तरु में चेतन,
मृन्मरण बाँध दो जग का,
दे प्राणों का आलिंगन!
बरसो सुख बन, सुखमा बन,
बरसो जग जीवन के घन!
दिशि दिशि में औ' पल पल में
बरसो संसृति के सावन!

१९३०]

नव संतति

मृदु तन, हम मधु बाल, मधुर मन!
नव जीवन से नव मुकुलित नित
जरा जीर्ण जग डाल, विटप, वन!

नव इच्छाओं का नव गुंजन,
मंजु मंजरित तन, मन, लोचन,
नव यौवन पिक पंचम कूजन
मुखरित विश्व रसाल हरित, घन!

नव छबि, नव रँग के कलि किसलय,
नव वय के अलि, नवल कुसुम चय,
मधुर प्रणय नव, नव मधु संचय,
जग मधुछत्र विशाल, सुपूरन!

१९३१]

गुंजन

वन वन, उपवन—

छाया उन्मन उन्मन गुंजन,
नव वय के अलियों का गुंजन!

रुपहले, सुनहले आम्र बौर,
नीले, पीले औ' ताम्र भौर,
रे गंध अंध हो ठौर ठौर,
उड़ पाँति पाँति में चिर उन्मन
करते मधु के वन में गुंजन!

वन के विटपों की डाल डाल
कोमल कलियों से लाल लाल,
फैली नव मधु की रूप ज्वाल,
जल जल प्राणों के अलि उन्मन,
करते स्पंदन, करते गुंजन!

अब फैला फूलों में विकास,
मुकुलों के उर में मदिर बास,
अस्थिर सौरभ से मलय श्वास,
जीवन मधु संचय को उन्मन
करते प्राणों के अलि गुंजन!

फरवरी, १९३२]

तप रे !

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व वेदना में तप प्रतिपल,
जग जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्वल, औ' कोमल,
तप रे विधुर विधुर मन !

अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग मे अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन !

तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन,
गंध हीन तू, गंध युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्तिमान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर मन !

जनवरी, १६३२]

जिज्ञासा

शांत सरोवर का उर
किस इच्छा से लहरा कर
हो उठता चंचल, चंचल !

सोए वीणा के सुर
क्यों मधुर स्पर्श से मर् मर्
वज उठते प्रतिपल, प्रतिपल !

आशा के लघु अंकुर
किस सुख से फड़का कर पर
फैलाते नव दल पर दल !

मानव का मन निष्ठुर
सहसा, आँसू में झर झर
क्यों जाता पिघल पिघल गल ?

मैं चिर उत्कंठातुर
जगती के अखिल चराचर
यों मौन मुग्ध किसके बल !

फरवरी, १६३२]

सुख दुख

मैं नही चाहता चिर सुख,
मैं नही चाहता चिर दुख;
सुख दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख!

सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन मे ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन!

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से।

अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न,
दुख सुख की निशा दिवा में,
सोता जगता जग जीवन!

यह साँझ उषा का आँगन,
आलिंगन विरह मिलन का,
चिर हास अश्रुमय आनन
रे इस मानव जीवन का!

फरवरी, १९३२]

उर की डाली

देखूँ सबके उर की डाली—
किसने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छबि उपवन से अकूल?
इसमें कलि, किसलय, कुसुम शूल!
किस छबि, किस मधु के मधुर भाव?
किस रँग, रस, रुचि से किसे चाव?
कवि से रे किसका क्या दुराव!

किसने ली पिक की विरह तान?
किसने मधुकर का मिलन गान?
या फुल्ल कुसुम, या मुकुल म्लान?
देखूँ सब के उर की डाली—
सब में कुछ सुख के तरुण फूल,
सब में कुछ दुख के करुण शूल;—
सुख दुख न कोई सका भूल!

फरवरी, १९३२]

अवलंबन

आँसू की आँखों से मिल
भर ही आते है लोचन,
हँसमुख ही से जीवन का
पर हो सकता अभिवादन!
अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुप न गुंजन,
करुणा से भारी अंतर
खो देता जीवन कंपन!

विश्वास चाहता है मन,
विश्वास पूर्ण जीवन पर;
सुख दुख के पुलिन डुबा कर
लहराता जीवन सागर!
दुख इस मानव आत्मा का
रे नित का मधुमय भोजन,

दुख के तम को खा खा कर
भरती प्रकाश से वह मन!
अस्थिर है जग का सुख दुख,
जीवन ही नित्य, चिरंतन!
सुख दुख से ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलंबन!

जनवरी, १९३२]

चिर सुख

कुसुमो के जीवन का पल
हँसता ही जग में देखा,
इन म्लान, मलिन अधरों पर
स्थिर रही न स्मिति की रेखा !

वन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना !
काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली
इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली !
अपनी डाली के काँटे
बेधते नहीं अपना तन,
सोने सा उज्वल बनने
तपता नित प्राणों का धन !

दुख दावा से नव अंकुर
पाता जग जीवन का वन,
करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव जीवन कण !

फरवरी, १९३२]

उन्मन

क्या मेरी आत्मा का चिर धन ?
मैं रहता नित उन्मन, उन्मन !

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर,
सुदर अनादि शुभ सृष्टि अमर;
निज सुख से ही चिर चंचल मन,
मै हूँ प्रतिपल उन्मन उन्मन !

मैं प्रेमी उच्चादर्शो का,
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शो का,
जीवन के हर्ष विमर्षो का;
लगता अपूर्ण मानव जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन उन्मन !

जग जीवन में उल्लास मुझे
नव आशा, नव अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे;
चाहिए विश्व को नव जीवन,
मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन !

फरवरी, १९३२]

सुंदर विश्वास

सुदर विश्वासों से ही
वनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज सहज साँसों से
चलता उर का मृदु स्पंदन।

हँसने ही में तो है सुख
यदि हँसने को होवे मन,
भाते हैं दुख में आते
मोती से आँसू के कण!
महिमा के विशद जलधि में
हैं छोटे छोटे से कण,
अणु से विकसित जग जीवन,
लघु अणु का गुरुतम साधन!

जीवन के नियम सरल हैं,
पर है चिर गूढ़ सरलपन;
है सहज मुक्ति का मधु क्षण,
पर कठिन मुक्ति का बंधन!

फरवरी, १९३२]

सूक्तियाँ

गाता खग प्रातः उठकर—
सुदर, सुखमय जग जीवन!
गाता खग संध्या तट पर—
मंगल, मधुमय जग जीवन!

कहती अपलक तारावलि
अपनी आँखों का अनुभव,—
अवलोक आँख आँसू की
भर आतीं आँखे नीरव!

हँसमुख प्रसून सिखलाते
पल भर है, जो हँस पाओ,
अपने उर की सौरभ से
जग का आँगन भर जाओ।

उठ उठ लहरे कहती यह
हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमग मे बह बह
नित आगे बढ़ती जावे।

कँप कँप हिलोर रह जाती—
रे मिलता नही किनारा!
बुद्बुद विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा।

जनवरी, १६३२]

विहग विहग

विहग, विहग,
फिर चहक उठे ये पुंज पुंज,
कल कूजित कर उर का निकुंज,
चिर सुभग, सुभग!

किस स्वर्ण किरण की करुण कोर
कर गई इन्हें सुख से विभोर?
किन नव स्वप्नों की सजग भोर?

हँस उठे हृदय के ओर छोर
जग जग खग करते मधुर रोर,
मैं रे प्रकाश में गया बोर!

चिर मुँदे मर्म के गुहा द्वार,
किस स्वर्ग रश्मि ने आर पार
छू दिया हृदय का अंधकार!

यह रे, किस छबि का मदिर तीर?
मधु मुखर प्राण का पिक अधीर
डालेगा क्या उर चीर चीर!

अस्थिर है साँसों का समीर,
गुंजित भावों की मधुर भीर,
झर झरता सुख से अश्रु नीर!

बहती रोम्रों में मलय वात,
स्पंदित उर, पुलकित पात गात,
जीवन में रे यह स्वर्ण प्रात!

नव रूप, गंध, रँग, मधु, मरंद,
नव आशा, अभिलाषा अमंद,
नव गीत गुज, नव भाव छंद,—

(ये)

विहग, विहग
जग उठे, जग उठे पुंज-पुज,
कूजित गुजित कर उर निकुज,
चिर सुभग, सुभग!

जनवरी, १६३२]

मानव

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने;
मेरे मानस के स्पंदन,
प्राणों के चिर पहचाने!

मेरे विमुग्ध नयनों को
तुम कांत कनी हो उज्वल;
मुख के स्मिति की मृदु रेखा,
करुणा के आँसू कोमल!

सीखा तुम से फूलों ने
मुख देख मंद मुसकाना,
तारों ने सजल नयन हो
करुणा किरणें बरसाना।

सीखा हँसमुख लहरों ने
आपस में मिल खो जाना,
अलि ने जीवन का मधु पी,
मृदु राग प्रणय के गाना।

पृथ्वी की प्रिय तारावलि!
जग के वसंत के वैभव!

तुम सहज सत्य, सुंदर हो,
चिर आदि और चिर अभिनव।

मेरे मन के मधुवन में
सुखमा के शिशु! मुसकाओ,
नव नव साँसों का सौरभ
नव मुख का सुख बरसाओ।

मैं नव नव उर का मधु पी,
नित नव ध्वनियों में गाऊँ,
प्राणों के पंख डुबा कर
जीवन मधु में घुल जाऊँ।

जनवरी, १९३२]

नीलकमल

नील कमल सी है वे आँख!
डूबे जिनके मधु में पाँख—
मन में मन मधुकर के पाँख!
नील जलज सी है वे आँख!

मुग्ध स्वर्ण किरणों ने प्रात
प्रथम खिलाए वे जलजात;
नील व्योम ने ढल अज्ञात
उन्हें नीलिमा दी नवजात;
जीवन की सरसी उस प्रात
लहरा उठी चूम मधु वात,
आकुल लहरों ने तत्काल
उनमें चंचलता दी ढाल,

नील नलिन सी है वे आँख!
जिनमें बस उर का मधुबाल
कृष्ण कनी बन गया विशाल,
नील सरोरुह सी वे आँख!

जनवरी, १६२८]

रूप तारा

रूप तारा तुम पूर्ण प्रकाम ;
मृगेक्षिणि ! सार्थक नाम ।
एक लावण्य लोक छविमान ,
नव्य नक्षत्र समान ,
उदित हो दृग पथ मे अम्लान
तारिकाओं की तान !
प्रणय का रच तुमने परिवेश
दीप्त कर दिया मनोनभ देश ;
स्निग्ध सौन्दर्य शिखा अनिमेष !
अमंद, अनिंद्य, अशेष !

उषा सी स्वर्णोदय पर भोर
दिखा मुख कनक किशोर ;
प्रेम की प्रथम मदिरतम कोर
दृगों में दुरा कठोर ;
छा दिया यौवन शिखर अछोर
रूप किरणों मे बोर ;
सजा तुमने सुख स्वर्ण सुहाग ,
लाज लोहित अनुराग !

नयन तारा बन मनोभिराम ,
सुमुखि, अब सार्थक करो स्वनाम !

तारिका सी तुम दिव्याकार,
चंद्रिका की झंकार!
प्रेम पंखों मे उड़ अनिवार
अप्सरी सी लघु भार,
स्वर्ग से उतरी क्या सोद्गार
प्रणय हंसिनि सुकुमार?
हृदय सर में करने अभिसार,
रजत रति, स्वर्ण विहार!

आत्म निर्मलता में तल्लीन
चारु चित्रा सी, आभासीन;
अधिक छिपने में खुल अनजान
तन्वि! तुमने लोचन मन छीन
कर दिए पलक प्राण गति हीन,
लाज के जल की मीन!
रूप की सी तुम ज्वलित विमान,
स्नेह की सृष्टि नवीन!

हृदय-नभ-तारा बन छबिधाम
प्रिये! अब सार्थक करो स्वनाम!

प्रथम यौवन मेरा मधुमास,
मुग्ध उर मधुकर, तुम मधु, प्राण!
शयन लोचन, सुधि स्वप्न विलास,
मधुर तंद्रा प्रिय ध्यान;
शून्य जीवन निसंग आकाश,
इंदु मुख इंदु समान;
हृदय सरसी, छबि पद्म विकास,
स्पृहाएँ ऊर्मिल गान!

कल्पना तुममे एकाकार,
कल्पना मे ,तुम आठों याम ;
तुम्हारी छबि में प्रेम अपार,
प्रेम में छबि अभिराम ;
अखिल इच्छाओं का संसार
स्वर्ण छबि मे निज गढ छबिमान,
बन गई मानसि! तुम साकार
देह दो एक प्राण!

नवंबर, १९२५]

विहग के प्रति

विजन वनं के ओ विहग कुमार !
आज घर घर रे तेरे गान ;
मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीर्ण जग का विषण्ण उद्यान !

सहज चुन चुन लघु तृण, खर, पात,
नीड़ रच रच निशि दिन सायास,
छा दिये तूने, शिल्पि सुजात !
जगत की डाल डाल में वास !

मुक्त पंखों में उड़ दिन रात,
सहज स्पंदित कर जग के प्राण,
शून्य नभ में भर दी अज्ञात
मधुर जीवन की मादक तान।

सुप्त जग में गा स्वप्निल गान
स्वर्ण से भर दी प्रथम प्रभात,
मंजु गुंजित हो उठा अजान
फुल्ल जग जीवन का जलजात।

श्रांत, सोती जब सन्ध्या वात,
विश्व पादप निश्चल, निष्प्राण,—
जगाता तू पुलकित कर पात
जगत जीवन का शतमुख गान।

छोड़ निर्जन का निभृत निवास,
नीड़ में बँध जग के सानंद,
भर दिए कलरव से दिशि आस
गृहों में कुसुमित, मुदित, अमंद!

रिक्त होते जब जब तरु वास
रूप धर तू नव नव तत्काल,
नित्य नादित रखता सोल्लास
विश्व के अक्षय वट की डाल।

मुग्ध रोओं मे मेरे, प्राण!
बना पुलकों के सुख का नीड़,
फूंकता तू प्राणों में गान
हृदय मेरा तेरा आक्रीड़।

दूर बन के ओ राजकुमार!
अखिल उर उर में तेरे गान,
मधुर इन गीतों से, सुकुमार!
अमर मेरे जीवन औ' प्राण।

अगस्त, १९३०]

संध्या तारा

नीरव संध्या में प्रशांत
डूबा है सारा ग्राम प्रांत!
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर!

खग कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि हीन,
धूसर भुजंग सा जिह्म, क्षीण!
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशांति को रहा चीर,
संध्या प्रशांति को कर गभीर!
इस महाशांति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार,
ज्यों बेध रही हो आर पार!

अब हुआ सांध्य स्वर्णाभ लीन
सब वर्ण वस्तु से विश्व हीन!
गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल,
है मूँद चुका अपने मृदु दल!
लहरों पर स्वर्ण रेख सुंदर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर,
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर!
तरु शिखरों से वह स्वर्ण विहग उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा नीड़ में रे किस मग!
मृदु मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील नील, कोमल कोमल,
छाया तरु वन में तम श्यामल!

पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्वल, अमंद नक्षत्र एक !
अकलुष, अनिद्य नक्षत्र एक, ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक !
किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिये हुए किसके समीप ?
मुक्तालोकित ज्यों रजत सीप !
क्या उसकी आत्मा का चिर धन, स्थिर, अपलक नयनों का चितन,
क्या खोज रहा वह अपनापन !
दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन !

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नही बधन विवेक !
चिर आकाक्षा से ही थर् थर् उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर लहर लहर !
अविरत इच्छा ही मे नर्तन करते अबाध रवि, शशि, उडगण,
दुस्तर आकाक्षा का बधन !
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल ! क्या नीरव, नीरव नयन सजल !
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल !
एकाकीपन का अंधकार, दुस्सह है इसका मूक भार,
इसके विषाद का रे न पार !
... ...

चिर अविचल पर तारक अमंद !
जानता नहीं वह छंद बंध !
वह रे अनंत का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन !
निष्कंप शिखा सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम !
... ...

गुंजित अलि सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अंधकार,
हलका एकाकी व्यथा भार !
जगमग जगमग नभ का आँगन लद गया कुंद कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग दर्शन !

जनवरी, १९३२]

नौका विहार

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्वल!
अपलक अनंत, नीरव भूतल!
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रांत, क्लांत, निश्चल!
तापस बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुंतल!
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार तरल सुंदर,
चंचल अंचल सा नीलांबर!
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल, मृदुल लहर!
चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,

हम चले नाव लेकर सत्वर!
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पाले चढ़ीं, उठा लंगर!
मृदु, मद, मंद, मंथर, मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुंदर,
तिर रही, खोल पालों के पर!
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर, बिंबित हो रजत पुलिन निर्भर,
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर!
कालाकाँकर का राज भवन, सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,
पलकों में वैभव स्वप्न सघन!

नौका से उठतीं जल हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर. छोर!
विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोज रहे चल तारक दल,
ज्योतित कर जल का अंतस्तल;
जिनके लघु दीपों के चंचल, अंचल की ओट किए अविरल,
फिरतीं लहरें लुक छिप पल पल!
सामने शुक्र की छबि झलमल, पैरती परी सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल!
लहरों के घूँघट से झुक झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता, मुग्धा सा रुक रुक!

अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार!
दो बाँहो से दूरस्थ तीर, धारा का कृश कोमल शरीर,
आलिंगन करने को अधीर!
अति दूर, क्षितिज पर विटप माल, लगती भ्रू रेखा सी अराल,
अपलक नभ नील नयन विशाल!
मा के उर पर, शिशु सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;
वह कौन विहग? क्या विकल कोक उड़ता, हरने निज विरह शोक
छाया की कोकी को विलोक!

पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार!
डाँड़ों के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन स्फार,
बिखराती जल में तार हार!
चाँदी के साँपों सी रलमल नाचती रश्मियाँ जल में चल,
रेखाओं सी खिंच तरल सरल!

लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ सौ शशि सौ सौ उडु झिलमिल,
फैले फूले जल में फेनिल !

अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले ले सहज थाह,
हम बढ़े घाट को सहोत्साह !

ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर मे आलोकित शत विचार !
इस धारा सा ही जग का क्रम शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम !
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास !
हे जग जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म मरण के आर पार,
शाश्वत जीवन नौका विहार !
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान !

मार्च, १९३२]

चाँदनी

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि,
मृदु करतल पर शशि मुख धर,
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि!
वह स्वप्न जड़ित नत चितवन
छू लेती अग जग का मन,
श्यामल, कोमल, चल चितवन
लहरा देती जग जीवन!

यह बेला की फूली वन
जिसमें न नाल, दल, कुड्मल;
केवल विकास चिर निर्मल
जिसमें डूबे दश दिशि दल!
वह सोई सरित पुलिन पर
साँसों में स्तब्ध समीरण,
केवल लघु लघु लहरों पर
मिलता मृदु मदु उर स्पंदन!

अपनी छाया में छिपकर
वह खड़ी शिखर पर सुंदर,
लो, नाच रहीं शत शत छबि
सागर की लहर लहर पर!

दिन की आभा दुलहिन बन
आई निशि निभृत शयन पर,
वह छबि की छुई मुई सी
मृदु मधुर लाज से मर मर!

जग के अस्फुट स्वप्नों का
वह हार गूंथती प्रतिपल;
चिर सजल सजल करुणा से
उसके ओसों का अंचल!
वह मृदु मुकुलों के मुख में
भरती मोती के चुंबन,
लहरों के चल करतल मे
चाँदी के चंचल उडगण!
वह परिमल के लघु घन सी
जो लीन अनिल मे अविकल,

सुख के उमड़े सागर सी
जिसमे निमग्न तट के स्थल!
वह स्वप्निल शयन मुकुल सी
है मुदे दिवस के द्युति दल,
उर मे सोया जग का अलि,
नीरव जीवन गुजन कल!
वह एक बूँद जीवन की
नभ के विशाल करतल पर;
डूबे असीम सुखमा में
सब ओर छोर के अंतर!

वह शशि किरणों से उतरी
चुपके मेरे आँगन पर,

उर की आभा में खोई,
अपनी ही छबि से सुंदर !
वह खड़ी दृगों के सम्मुख
सब रूप, रेख, रँग ओझल ;
अनुभूति मात्र सी उर में,
आभास शांत, शुचि, उज्वल !

वह है, वह नहीं, अनिर्वच,
जग उसमें, वह जग में लय ;
साकार चेतना सी वह,
जिसमें अचेत जीवाशय !

फरवरी, १९३२]

चाँदनी

जग के दुख दैन्य शयन पर
यह रुग्णा जीवन बाला
रे कब से जाग रही, वह
आँसू की नीरव माला !
पीली पड़, दुर्बल, कोमल
कृश देह लता कुम्हलाई ;
विवसना, लाज में लिपटी,
साँसों में शून्य समाई !

रे म्लान अंग, रँग, यौवन !
चिर मूक, सजल नत चितवन !
जग के दुख से जर्जर उर,
बस मृत्यु शेष अब जीवन !!
वह स्वर्ण भोर को ठहरी
जग से ज्योतित आँगन पर,
तापसी विश्व की बाला
पाने नव जीवन का वर !

फरवरी, १९३२]

जीवन क्रम

सुंदर मृदु मृदु रज का तन,
चिर सुंदर सुख दुख का मन;
सुंदर शैशव यौवन रे,
सुंदर सुंदर जग जीवन!
सुंदर वाणी का विभ्रम,
सुंदर कर्मो का उपक्रम;
चिर सुंदर जन्म मरण रे,
सुंदर सुंदर जग जीवन!

सुदर प्रशस्त दिशि अंचल,
सुदर चिर लघु, चिर नव पल;
सुंदर पुराण नूतन रे
सुंदर सुदर जग जीवन!
सुंदर से नित सुंदरतर
सुंदरतर से सुदरतम,
सुदर जीवन का क्रम रे,
सुदर सुंदर जग जीवन!

फरवरी, १९३२]

अप्सरा

निखिल कल्पनामयि अयि अप्सरि !
अखिल विस्मयाकार !
अकथ, अलौकिक, अमर अगोचर
भावों की आधार !
गूढ, निरर्थ असभव, अस्फुट
भेदों की शृंगार !
मोहिनि कुहुकिनि, छल विभ्रममयि,
चित्र विचित्र अपार !

शैशव की तुम परिचित सहचरि,
जग से चिर अनजान
नव शिशु के सँग छिप छिप रहती
तुम, मा का अनुमान ;
डाल अँगूठा शिशु के मुँह में
देती मधु स्तन दान,
छिपी थपक से उसे सुलाती,
गा गा नीरव गान !

तंद्रा के छाया पथ से आ
शिशु उर में सविलास,
अधरों के अस्फुट मुकुलों मे
रँगती स्वप्निल हास ;

दंत कथाओं से अबोध शिशु
सुन विचित्र इतिहास
नव नयनों में नित्य तुम्हारा
रचते रूपाभास !

प्रथम रूप मदिरा से उन्मद
यौवन में उद्दाम
प्रेयसि के प्रत्यंग अंग से
लिपटी तुम अभिराम,
युवती के उर मे रहस्य बन
हरती मन प्रतियाम,
मृदुल पुलक मुकुलों से लद कर
देह लता छबि धाम !

इंद्रलोक में पुलक नृत्य तुम
करती लघु पद भार !
तड़ित चकित चितवन से चंचल
कर सुर सभा अपार,
नग्न देह में नव रँग सुरधनु
छाया पट सुकुमार,
खोंस नील नभ की वेणी मे
इंदु कुंद द्युति स्फार !

स्वर्गंगा में जल बिहार तुम
करती, बाहु मृणाल !
पकड़ पैरते इंदु बिम्ब के
शत शत रजत मराल ;

उड़ उड़ नभ में शुभ्र फेन कण
बन जाते उडु बाल,
सजल देह द्युति चल लहरों मे
बिम्बित सरसिज माल!

रवि छबि चुबित चल जलदों पर
तुम नभ मे, उस पार,
लगा अंक से तड़ित भीत शशि—
मृग शिशु को सुकुमार,
छोड़ गगन मे चचल उडुगन
चरण चिह्न लघु भार,
नाग दंत नत इद्रधनुष पुल
करती हो नित पार!

कभी स्वर्ग की थी तुम अप्सरि,
अब वसुधा की बाल,
जग के शैशव के विस्मय से
अपलक पलक प्रवाल!
बाल युवतियों की सरसी मे
चुगा मनोज्ञ मराल,
सिखलाती मृदु रोम हास तुम
चितवन कला अराल!

तुम्हे खोजते छाया वन मे
अब भी कवि विख्यात,
जब जग जग निशि प्रहरी जुगनू
सो जाते चिर प्रात,

सिहर लहर, मर्मर कर तरुवर,
तपक तड़ित अज्ञात,
अ१ भी चुपके इंगित देते
गूँज मधुप, कवि भ्रात!

गौर श्याम तन, बैठ प्रभा तम,
भगिनी भ्रात सजात,
बुनते मृदुल मसृण छायाचल
तुम्हें तन्वि! दिन रात;
स्वर्ण सूत्र में रजत हिलोरें
कंचु काढ़ती प्रात,
सुरँग रेशमी पंख तितलियाँ
डुला, सिरातीं गात!

तुहिन बिन्दु में इंदु रश्मि सी
सोई तुम चुपचाप,
मुकुल शयन में स्वप्न देखती
निज निरुपम छबि आप;
चटुल लहरियों से चल चुंबित
मलय मृदुल पद चाप,
जलजों में निद्रित मधुपों से
करती मौनालाप!

नील रेशमी तम का कोमल
खोल लोल कच भार,
तार तरल लहरांचल,
स्वप्न विकच स्तन हार;

शशि कर सी लघु पद, सरसों में
करती तुम अभिसार,
दुग्ध फेन शारद ज्योत्स्ना में
ज्योत्स्ना सी सुकुमार!

मेंहदी युत मृदु करतल छबि से
कुसुमित सुभग सिंगार,
गौर देह द्युति हिम शिखरों पर
बरस रही साभार;
पद लालिमा उषा, पुलकित पर
शशि स्मित घन सोभार,
उडु कंपन मृदु मृदु उर स्पंदन,
चपल वीचि पद चार!

शत भावों के विकच दलों से
मंडित, एक प्रभात
खिली प्रथम सौन्दर्य पद्म सी
तुम जग में नवजात;
भृंगों से अगणित रवि, शशि, ग्रह
गूंज उठे अज्ञात,
जगज्जलधि हिल्लोल विलोड़ित,
गंध अंध दिशि वात!

जगती के अनिमिष पलकों पर
स्वर्णिम स्वप्न समान,
उदित हुई थी तुम अनंत
यौवन में चिर अम्लान;

चंचल अंचल में फहरा कर
भावी स्वर्ण विहान,
स्मित आनन में नव प्रकाश से
दीपित नव दिनमान !

सखि, मानस के स्वर्ग वास मे
चिर सुख में आसीन,
अपनी ही सुखमा में अनुपम,
इच्छा में स्वाधीन,
प्रति युग में आती हो रंगिणि !
रच रच रूप नवीन,
तुम सुर-नर-मुनि-ईप्सित अप्सरि !
त्रिभुवन भर में लीन !

अंग अंग अभिनव शोभा का
नव वसंत सुकुमार,
भुकुटि भंग नव नव इच्छा के
भृंगों का गुंजार;
शत शत मधु आकांक्षाओं से
स्पंदित पृथु उर भार,
नव आशा के मृदु मुकुलों से
चुंबित लघु पदचार !

निखिल विश्व ने निज गौरव
महिमा, सुखमा कर दान,
निज अपलक उर के स्वप्नों से
प्रतिमा कर निर्माण,

पलपल का विस्मय, दिशि दिशि की
प्रतिभा कर परिधान,
तुम्हे कल्पना औ' रहस्य मे
छिपा दिया अनजान !

जग के सुख दुख, पाप ताप,
तृष्णा ज्वाला से हीन,
जरा - जन्म - भय - मरण - शून्य,
यौवनमयि, नित्य नवीन;
अतल - विश्व - शोभा - वारिधि मे,
मज्जित जीवन मीन,
तुम अदृश्य, अस्पृश्य अप्सरी,
निज सुख मे तल्लीन !

फरवरी, १९३२]

गीत

चीटियों की सी काली पाँति
गीत मेरे चल फिर निशि भोर,
फैलते जाते है बहु भाँति
बन्धु ! छूने अग जग के छोर।

लोल लहरों से यति गति हीन
उमड़, बह, फैल अकूल, अपार,
अतल से उठ उठ, हो हो लीन,
खो रहे बंधन गीत उदार।

दूब से कर लघु लघु पद चार—
बिछ गये छा छा गीत अछोर,
तुम्हारे पद तल छू सुकुमार
मृदुल पुलकावलि बन चहुँ ओर।

तुम्हारे परस परस के साथ
प्रभा में पुलकित हो अम्लान,
अंध तम में जग के अज्ञात
जगमगाते तारों से गान।

हँस पड़े कुसुमों में छबिमान
जहाँ जग में पदचिह्न पुनीत,
वहीं सुख के आँसू बन, प्राण!
ओस मे लुढ़क, दमकते गीत!

बन्धु! गीतों के पंख पसार
प्राण मेरे स्वर में लयमान,
हो गये तुम से एकाकार
प्राण में तुम औ' तुम में प्राण।

अगस्त, १६३०]

सांध्य वंदना

जीवन का श्रम ताप हरो, हे !
सुख सुखमा के मधुर स्वर्ण से
सूने जग गृह द्वार भरो, हे !

लौटे गृह सब श्रांत चराचर,
नीरव तरु अधरों पर मर्मर,
करुणानत निज कर पल्लव से
विश्व नीड़ प्रच्छाय करो, हे !

उदित शुक्र, अब अस्त भानु बल,
स्तब्ध पवन, नत नयन पद्म दल,
तंद्रिल पलकों में निशि के शशि !
सुखद स्वप्न बन कर विचरो, हे !

१९३२]

ज्योत्स्ना स्तुति

तुम चद्र वदनि, तुम कुद दशनि,
तुम शशि प्रेयसि, प्रिय परछाई!
नभ की नव रँग सीपी से तुम
मुक्ताभा सदृश उमड़ आई!
उर में अविकच स्वप्नों का युग,
मन की छबि तन से छन छाई!
श्री, सुख, सुखमा की कलि चुन चुन
जग के हित अंचल भर लाई!

१९३२]

मिलन

जब मिलते मौन नयन पल भर,
खिल खिल अपलक कलियाँ निर्भर
देखतीं मुग्ध, विस्मित, नभ पर!
तुम मदिराधर पर मधुर अधर
धरते, झरते हिम कण झर् झर्,
मोती के चुंबन से चूकर
मृदु मुकुलों के सस्मित मुख पर!

तुम आलिंगन करते, हिमकर!
नाचतीं हिलोरें सिहर सिहर,
सौ सौ बाँहों में बाँहें भर
सर में, आकुल, उठ उठ, गिरकर!
जब रहस मिलन होता सुखकर,
स्वर्गिक सुख स्वप्नों से सुंदर
भर जाता स्नेहातुर होकर,
अग जग का विरह विधुर अंतर!

१९३२]

लिली के प्रति

सुखमा की जितनी मधुर कला,
उन सबमे सुदर सलज लिली !
वह छायातप मे सहज पली,
अपनी शोभा से स्वयं खिली !

वह तरुण प्रणय की पी पलकों को
सौन्दर्य स्वप्न सी प्रथम मिली,
वह प्यारी, गोरी, रूप परी,
जग मे मेरे ही संग हिली !

१९३२]

जुगनू

जगमग जगमग, हम जग का मग,
ज्योतित प्रति पग करते जगमग!

हम ज्योति शलभ, हम कोमल प्रभ,
हम सहज सुलभ दीपों के नभ!
चंचल, चंचल, बुझ बुझ, जल जल,
शिशु उर पल पल हरते छल छल!

हम पटु नभचर, हँसमुख सुंदर,
स्वप्नों को हर लाते भू पर?
झिलमिल, झिलमिल, स्वप्निल, तंद्रिल,
आभा हिलमिल भरते झिलमिल!

१९३२]

ओस का गीत

जीवन चल, जीवन कल,
जीवन हिमजल लघु पल!
विश्व सुखद, विश्व विशद,
विश्व विकच प्रेम कमल!
जीवन चल, जीवन कल,
जीवन हिमजल लघु पल!

खिल खिल कर, झिलमिल कर
हिलमिल लें, बंधु! सकल;
जन्म नवल, अगणित पल
लेंगे कल, सृजन प्रबल!
जीवन चल, जीवन कल,
जीवन हिमजल लघु पल!

१९३२]

छाया का गीत

अलस पलक, सघन अलक,
श्यामल छबि छाया!
स्वप्निल मन, तंद्रिल तन,
शिथिल वसन भाया!

जीवन में धूप छाँह,
सुख दुख के गले बाँह;
मिटती सुख की न चाह,
अमिट मोह माया!

जग के मग में उदास,
आओ यदि, पांथ! पास,
हरूँ सकल ताप त्रास,
शीतल हो काया!

१९३२]

पवन गीत

सर् सर् मर् मर् झन् झन् सन् सन्—
गाता कभी गरजता भीषण,
वन वन, उपवन,
पवन, प्रभंजन!

मेरी चपल अँगुलियों पर चल
लोल लहरियाँ करती नर्तन,
अधर अधर पर धर चल चुंबन,
बाँह बाँह मे भर आलिगन!
मेरा चाबुक खा, मृगेंद्र सा
आहत घन करता गुरु गर्जन,
अट्टहास कर, विद्युत पर चढ़,
जब मैं नभ मे करता विचरण!

१९३२]

तितलियों का गीत

जीवन के सुखमय स्पर्शों से
हम खोल खोल पुलकों के पर,
उड़ती फिरतीं सुख के नभ में
स्मिति के आतप में ज्यों स्मितिचर!
पा साँस चेतना की मानो
जड़ वृंत नीड़ से उड सत्वर
हम फूली फिरती फूलों सी
पंखों की सुरँग पँखड़ियों पर!

पल पल चल पलकों में उड़तीं
चितवन की परियों सी सुन्दर
हम शिशु के अधरों पर मुकुलित
स्वप्नों की कलियों सी सुखकर!
चेतना रेशमी सुखमा की
सौ सौ रुचि रंग रूप धर कर
उड़ती हो ज्यों रचना सुख में,
रँग रँग जीवन के गति प्रिय पर!

(फूलों तितलियों का गान)

तितली

हों जग में मधुर फूल से मुख,
जीवन में क्षण क्षण चुंबन सुख!

फूल

हों इच्छाओं के चचल पर
अधरों से मिलते रहें अधर!

तितली

हों हृदय प्रणय मधु से मधुमय,
उर सौरभ से जग सौरभमय!

फूल

हों सबके प्रिय स्नेही सहचर,
यह धरा स्वर्ग ही सी सुखकर!

१९३२]

हिलोरों का गीत

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल खिल पड़ती हैं प्रतिपल!
जीवन के फेनिल मोती को
ले ले चल करतल में टलमल!
छू छू मधु मलयानिल रह रह
करता प्राणों को पुलकाकुल
जीवन की लतिका में लहलह
विकसा इच्छा के नव नव दल!

सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि
गृह पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करतीं हिल मिल,
खस खस पड़ता उर से अंचल!
चिर जन्म मरण को हँस हँस कर
हम आलिंगन करतीं पल पल,
फिर फिर असीम से उठ उठ कर
फिर फिर उसमें हो हो ओझल!

१९३२]

झकोरों का गीत

हम चिर अदृश्य नभचर सुंदर
अपनी लघिमा पर न्योछावर!
शोभित मृदु वाष्प वसन तन पर,
रवि शशि किरणों से सस्मित पर!

अधरो में भर अस्फुट मर्मर,
साँसों से पी सौरभ सुखकर
फिरते हम दिशि दिशि निशि वासर
चढ़ चित्रग्रीव चल जलदों पर!

खिल पड़ते चपल परस पाकर
पुलकित हो तृण तरुदल सत्वर,
नाचती संग विवसना लहर
बाहों में कोमल बाहें भर!

१९३२]

हिलोर और झकोर

लहर—हम कोमल सलिल हिलोर नवल,
झकोर—हम अस्थिर मरुत झकोर चपल !
लहर—हम मुग्धा नव यौवन चंचल,
झकोर—हम तरुण, मिलन इच्छा विह्वल !

लहर—हम लाज भीरु, खुल पड़ता तन,
झकोर—सुंदर तन का सौन्दर्य वसन !
लहर—श्लथ हुए अंग सब सिहर सिहर,
झकोर—आकुल उर काँप रहा थर् थर् !

लहर—हम तन्वि, भार यह नव यौवन,
झकोर—नवला का आश्रय आलिंगन !
लहर—हम जल अप्सरि,
झकोर—हम चल नभचर,
दोनों—है प्रेम पाश स्वर्गीय, अमर !

१६३२]

विहग गीत

आओ, जीवन के आतप में
हम सब हिल मिल खेलें जी भर,
गई रात, त्यागो जड़ निद्रा,
खुला ज्योति का छत्र गगन पर!

चहकें जुट जग के आँगन में
हो निज लघु नीड़ों से बाहर,
एक गान हो यह जग जीवन,
हम उसके सौ सौ सुखमय स्वर!

सुख से रे रस लें, जीवन फल,
छेद प्रेम की चंचु से प्रखर,
डाल डाल हो क्रीड़ा कलरव,
शाख शाख हो इस जग की, घर!

मुक्त गगन है जग जीवन का,
उड़ें खोल इच्छाओं के पर,
हो अपार उड़ने की इच्छा,
है असीम यह जग का अंबर!

१९३२]

तारा गीत

कुंद धवल, तुहिन तरल,
तारा दल, ए—

तारक चल हिम जल पल,
नील गगन विकसित दल
नीलोत्पल, ए—(हम)—
नृत्य निरत सकल सतत,
रवि, शशि, उडु, ग्रह, अविरत
पुलकित अणु अणु गति रत,
प्रेम विकल, ए—(हम)—
निखिल जगत प्रेम ग्रथित,
मोहित चर अचर भ्रमित,
प्रेम अजर, अमर प्रथित,
जीवन चल, ए—(हम)—

१९३२]

किरणों का गीत

हम स्वर्ग किरण, आलोक वरण, सुकुमारी,
हम चिर अदृश्य अप्सरियाँ भू नभ चारी।
छवि की अलकों सी स्मिति की रेखाओं सी,
जग जीवन की झंकारों सी सुखकारी।

हम संसृति के पट के तानों बानों सी,
जीवन अंकुर सी, सृजन सूत्र सी न्यारी।
हम ज्योति वाहिनी, दृष्टि दायिनी जग की,
सब रूप, रग, रेखाएँ जिन पर वारी।

आशीर्वाद सी झुकी स्वर्ग की भू पर,
पुलकित अग जग, अणु अणु, तृण तृण छबिधारी।
हम सूक्ष्म शिराओ सी छाई दिशि दिशि में,
बहती जिनमे जीवन आभा उजियारी।

१६३२]

आकाश गीत

सजल स्निग्ध स्मिति, मधुर मंद गति री,
इंदु किरण अमृतोज्वल!

चटुल लहर पर चपल लास कर,
मुकुल अधर पर मृदुल हास भरतीं
चूम चूम स्वप्निल दल!

रजत स्वर्ण परियों सी सुंदर,
उतर मुग्ध तंद्रिल पलकों पर,
सुख स्वप्नों से नित हँस हँस रँगतीं
जगती के दृग अंचल!

१६३२]

स्वागत गीत

सरल, चटुल, विमल विपुल,
हिम शिशु हुलसाए!
दल दल पर, झलमल कर,
मोती मुसकाए!

मुकुल मुकुल पर विलास,
कलि कलि पर हास हास,
तृण तृण पर तरल लास,
भू पर उडु छाए!

स्वागत, सम्राज्ञि! आज,
श्री सुख के सजे साज,
चल छवि कल तुहिन ताज,
मणि द्युति गल जाए।

१६३२]

शक्तिवाद

जो है समर्थ जो शक्तिमान,
जीने का है अधिकार उसे।
उसकी लाठी का बैल विश्व,
पूजता सभ्य संसार उसे!

दुर्बल का घातक दैव स्वयं,
समझो बस भू का भार उसे।
'जैसे को तैसा'—नियम यही,
होना ही है संसार उसे!

है दास परिस्थितियों का नर,
रहना उनके अनुसार उसे।
जीता है योग्य सदा जग में,
दुर्बल ही है आहार उसे!

तृण, झष पशु से नर तन देता
जीवन विकास का तार उसे,
वह शासन क्यों न करे भू पर
चुनना है सबका सार उसे!

१९३२]

ज्योतिर्लिंग

हम है प्रकाश के शिशु सस्मित,
जग के तम मे हँस हँस पड़ते!
जीवन की चिनगारियाँ अमर,
फिर फिर बुझते, फिर फिर जलते!
हम एक ज्योति की बहु बूंदे,
जग करतल में चू चू झरते!
हम जागृति के उज्वल लघु पल,
जगती की चिर निद्रा हरते!
दुविधा के तम मे ज्योति दिखा,
हम पथ प्रदीप उर के बनते!
छाया पथ से हर स्वप्नो को
संदेश सुखद जग से कहते!

१९३२]

भू वंदना

धन्य मातृ धन्य धातृ,
धन्य पुत्र सचराचर !

निखिल शस्य पुष्प निकर,
कोटि कोटि, खग, पशु नर,
विविध जाति, वंश प्रवर,
पुण्य धूलि जात अमर !

प्रचुर अन्न बहु जल फल,
सुरँग वसन, भूषण कल,
रजत, स्वर्ण रत्न अचल,
धरणि धाम सुर सुखकर !

कलरव, क्रीड़ा, विनोद,
मुखरित नित अवनि गोद,
प्रिय जग जीवन प्रमोद
कुसुमित वन, जनपथ, घर !

रवि शशि स्मित दिशि मंडल,
नील सिंधु चल मेखल,
हिमगिरि, शत सरित चपल,
तड़ित चकित नभ सुंदर !

रजत दिवस, स्वर्ण प्रात,
तारा शशि खचित रात,
मधुर मरुत मलय जात,
षड्ऋतु नर्तन मनहर !
पत्नी पति, भगिनो भ्रात,
दुहिता सुत, पिता मात,
स्नेह बद्ध सकल तात,
पुरजन, परिजन सहचर !
सर्वदेश, सर्वकाल,
धर्म जाति वर्ण जाल,
हिल मिल सब हों विशाल,
एक हृदय अगणित स्वर !

१६३२]

मानव शक्ति

गूंजे जय ध्वनि से आसमान—
'सब मानव मानव हैं समान!'

निज कौशल, मति, इच्छानुकूल
सब कर्म निरत हों भेद भूल,
बंधुत्व भाव ही विश्व मूल,
सब एक राष्ट्र के उपादान!

लोकोन्नति का हो खुला द्वार,
पथ दर्शक सबका सदाचार
हों मुक्त कर्म, वाणी, विचार,
हों श्रेय प्रेय रे एक प्राण!

हो सहज स्नेह संस्कृत स्वभाव,
उर में उमंग, उत्साह, चाव,
धन, अन्न, वस्त्र का मुक्त स्राव,
हो एक विश्व जीवन महान!

सब श्रम, उद्यम गौरव प्रधान,
सब कर्मों का हो उचित मान
सब कंठों में हो एक गान—
मानव मानव सब हैं समान!

१९३२]

फूलों का गीत

मुकुलित तन हो, प्रमुदित मन हो,
सुभग सुरँग अँग, सौरभ धन हो!

वृंत शयन हो, तुहिन चयन हो,
मधुर मलय, मधुमय गुंजन हो!

नव बचपन हो, नव यौवन हो,
क्रीड़न, आलिंगन चुंबन हो!

नील गगन हो, नव मधुवन हो,
हास लासमय जग जीवन हो!

१९३२]

नृत्य गीत

संयुक्त : हास हास, लास लास,
साँस साँस में सुवास!

कुछ : दल दल में रंग रंग
पल पल में नव उमंग!

कलि कलि में नव विकास,
जग चिर जीवन निवास!

कुछ : हिल हँस लें संग संग,
जीवन चल जल तरंग!

काल डाल में विलास,
जीवन क्षण हिम हुलास!

कुछ : जीवन शाश्वत वसंत,
जय जग जीवन अनंत!

कुछ : जन्म मरण आस पास;
जीवन रे मृत्यु ग्रास!

कुछ : जीवन चिर मुक्त द्वार,
जन्म मरण चल किवार!

संयुक्त : आवागम मुक्त पाश;
जीवन अग जग प्रकाश!

१९३२]

कनक किरण

कनक किरण ! कनक वरण !
स्वर्णिम महि शतदल पर
शोभित लघु अरुण चरण !

कनक किरण, कनक वरण !
झुक झुक मुख चूम चूम
तृण तृण कण प्रीति भरण !

कनक किरण, कनक वरण !
दिशि धनु शर सी असंख्य
द्रुत भव तम भीति हरण !

कनक किरण, कनक वरण !
रवि छबि से स्मित लघु पर,
अप्सरि सी व्योम तरण !

कनक किरण, कनक वरण !
शतकर धृत, अंक लसित
सस्मित शिशु विश्व शरण !

कनक किरण, कनक वरण !
आतप से त्रस्त तिमिर,
जीवन से त्रस्त मरण !

१६३२]

स्वप्न कल्पना

शिशुओं के अविकच उर में
हम चिर रहस्य बन रहते !
छाया वन के गुंजन में
युग युग की गाथा कहते !
अनिमिष तारक पलकों पर
हम भावी का पथ तकते !
नव युग की स्वर्ण कथाएँ
ऊषा अंचल पर लिखते !

सीमाएँ बाधा बंधन,
निःसीम सदैव विचरते ;
हम जगती के नियमों पर
अनियम से शासन करते !
हम मनोलोक से जग में,
युग युग में आते जाते,
नव जीवन के ज्वारों में
दिशि पल के पुलिन डुबाते !

१९३२]

मधु प्रभात

लो, जग की डाली डाली पर
जागी नव जीवन की कलियाँ !
मिट्टी ने जड़ निद्रा तज कर
खोली स्वप्निल पलकावलियाँ !
मलयानिल ने सरका उर से
उर्वी का तंद्रिल छायांचल,
रज रज के रोएँ रोएँ में
छू छू भर दीं पुलकावलियाँ !

शशि किरणों ने मोती भर भर
गूँथी उड़ती सौरभ अलके
गूँजी, मधु अधरों पर मँडरा,
इच्छाओं की मधुपावलियाँ !
श्री, सुख, स्वप्नों से भर लाई
लो, ऊषा सोने की डलिया,
मुखरित रखती जग का आँगन
जीवन की नव नव रँगरलियाँ !

[१९३२]

जीवन वसंत

जग जीवन नित नव नव,
प्रतिदिन, प्रतिक्षण उत्सव!
जीवन शाश्वत वसंत,
अगणित कलि कुसुम वृंत,
सौरभ सुख श्री अनंत,
पल पल नव प्रलय प्रभव!

रवि शशि ग्रह चिर हर्षित
जल स्थल दिशि समुल्लसित,
निखिल कुसुम कलि सस्मित,
मुदित सकल हों मानव!
आशा इच्छानुराग,
हो प्रतीति, शक्ति, त्याग,
उर उर में प्रेम आग,
प्रेम स्वर्ग मर्त्य विभव!

१९३२]

मानव स्तव

न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर,
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन बंधन!

है रे न दिशावधि का मानव,
वह चिर पुराण, वह चिर नूतन,
मानव के है सब जाति, वर्ण,
सब धर्म, ज्ञान, संस्कृति, बल, धन!

मृन्मय प्रदीप मे दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम,
हम एक ज्योति के दीप अखिल,
ज्योतित जिनसे जग का आँगन!

हम पृथ्वी की प्रिय तारावलि,
जीवन वसंत के मुकुल, सुमन,
सुरभित सुख से गृह गृह उपवन,
उर उर में पूर्ण प्रेम मधु धन!

१९३२]

सौर मंडल

चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय,
चिन्मय प्रकाश में विकसित, लय !
रवि, शशि, ग्रह, उपग्रह, तारा चय
अग जग प्रकाशमय हैं निश्चय !
चित् शक्ति एक रे जगज्जननि,
धृत ज्योति योनि में लोकाशय,
पलते उर में नव जगत सतत,
होते जग जीर्ण उदर में क्षय !

चिर महानन्द के पुलकों से
झर झर नित अगणित लोक निचय,
नाचते शून्य में समुल्लसित
बन शत शत सौर चक्र निर्भय !
अविराम प्रेम परिणय अग जग,
परिणीत उभय चिन्मय मृन्मय,
जड़ चेतन, चेतन जड़ बन बन
रचते चिर सृजन प्रलय अभिनय !

१९३२]

निद्रा का गीत

सोओ, सोओ, तात !
सोए तरु वन मे खग,
सरसी में जलजात !

सजग गगन के तारक
भू प्रहरी प्रख्यात,
सोओ जग दृग तारक,
भूलो पलक निपात !

चपल वायु सा मानस,
पा स्मृतियों के घात
भावों में मत लहरे,
विस्मृत हो जा गात !

जाग्रत उर मे कंपन,
नासा में हो वात,
सोएँ सुख, दुख इच्छा,
आशाएँ अज्ञात !

विस्मृति के तंद्रालस
तमसाचल में, रात—
सोओ जग की संध्या,
होवे नवयुग प्रात !

१६३२]

प्रलय गीत

डम डम डम डमरु स्वर,
रुद्र नृत्य प्रलयंकर!
कंपित दिग्भू अंबर,
ध्वस्त अहंमद डंवर!
क्रूर, शूर, खर, दुर्धर,
अंध तमस पुत्र अमर,
नित्य सर्व शिव अनुचर
भव भय तम भ्रम जित्वर!

हम अभाव जनित, अपर,
हमसे सत् चित् अक्षर,
नाम रूप गुण अंतर
तम प्रकाश रूपांतर!
झंझा हर जीर्ण पत्र
बोता नव बीज निकर,
पाता नित सद् विकास,
होता लय तम कट मर!

१९३२]

उषा वंदना

तुम नील वृंत पर नभ के जग
ऊषे ! गुलाब सी खिल आई !
अलसाई आँखों मे भरकर
जग के प्रभात की अरुणाई !
लिपटी तुम तरुण अरुण उर से
लज्जा लाली की सी झाँई !
भू पर उस स्नेह मधुरिमा की
पड़ती सखि, कोमल परछाँई !

तुम जग की स्वप्न शिराओं में
नव जीवन रुधिर सदृश छाई,
मानस में सोई, भावों की
लो, अखिल कमल कलि मुसकाई !
आशाऽकांक्षा के कुसुमों से
जीवन की डाली भर लाई,
जग के प्रदीप में जीवन की
लौ सी उठ, नव छबि फैलाई !

१६३२]

मंगल गान

मंगल चिर मंगल हो !
मंगलमय सचराचर,
मंगलमय दिशि पल हो !
तमस मूढ़ हों भास्वर,
पतित क्षुद्र, उच्च प्रवर,
मृत्यु भीत, नित्य अमर,
अग जग चिर उज्वल हो !

शुद्ध बुद्ध हों सब जन,
भेद मुक्त, निर्भय मन,
जीवित सब जीवन क्षण,
स्वर्ग यही भूतल हो !
लुप्त जाति वर्ण विवर,
सुप्त अर्थ शक्ति भँवर,
शांत रक्त तृष्ण समर,
प्रहसित जग शतदल हो !

१९३२]

द्रुत झरो

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!
हे स्रस्त ध्वस्त! हे शुष्क शीर्ण!
हिम ताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीत राग, जड़, पुराचीन!!
निष्प्राण विगत युग! मृत विहंग!
जग नीड़ शब्द औ' श्वास हीन,
च्युत, अस्त व्यस्त पंखों से तुम
झर झर अनंत में हो विलीन!

कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर,—पल्लव लाली!
प्राणों को मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली!
मंजरित विश्व में यौवन के
जग कर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय स्वर मदिरा से
भर दे फिर नव युग की प्याली!

फरवरी '३४]

गा, कोकिल !

गा, कोकिल, बरसा पावक कण !

नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बंधन !
पावक पग धर आए नूतन,
हों पल्लवित नवल मानवपन !

गा कोकिल, भर स्वर में कंपन !

झरें जाति कुल वर्ण पर्ण घन,
अंध नीड़ से रूढ़ि रीति छन,
व्यक्ति राष्ट्र गत राग द्वेष रण,
झरें, मरें विस्मृति में तत्क्षण !

गा, कोकिल, गा, कर मत चिन्तन !

नवल रुधिर से भर पल्लव तन,
नवल स्नेह सौरभ से यौवन ;
कर मंजरित नव्य जग जीवन,
गूंज उठे पी पी मधु सब जन !

गा, कोकिल, नव गान कर सृजन !

रच मानव के हित नूतन मन,
वाणी, वेश, भाव नव शोभन,
स्नेह, सुहृदता हो मानस धन,
करें मनुज नव जीवन यापन !

गा, कोकिल, संदेश सनातन !

मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन,
वह न देह का नश्वर रज कण !
देश काल है उसे न बंधन,
मानव का परिचय मानवपन !

कोकिल, गा, मुकुलित हों दिशि क्षण !

अप्रैल '३५]

वे डूब गए

वे डूब गए—सब डूब गए
दुर्दम, उदग्रशिर अद्रिशिखर!
स्वप्नस्थ हुए स्वर्णातप में
लो स्वर्ण स्वर्ण अब सब भूधर!
पल में कोमल पड़, पिघल उठे
सुंदर बन, जड़ निर्मम प्रस्तर,
सब मंत्र मुग्ध हो, जड़ित हुए,
लहरों से चित्रित लहरों पर!

मानव जग में गिरि कारा सी
गत युग की संस्कृतियाँ दुर्धर
बंदी की हैं मानवता को
रच देश जाति की भित्ति अमर!
ये डूबेंगी—सब डूबेंगी
पा नव मानवता का विकास,
हँस देगा स्वर्णिम, वज्र लौह
छू मानव आत्मा का प्रकाश!

अप्रैल, १९३९]

मानव जग

वे चहक रहीं कुंजों में चंचल सुंदर
चिड़ियाँ, उर का सुख बरस रहा स्वर स्वर पर!
पत्रों पुष्पों से टपक रहा स्वर्णातप
प्रातः समीर के मृदु स्पर्शों से कँप कँप!
शत कुसुमों में हँस रहा कुंज उड्डु उज्वल,
लगता सारा जग सद्यस्मित ज्यों शतदल!

है पूर्ण प्राकृतिक सत्य! किन्तु मानव जग,
क्यों म्लान तुम्हारे कुंज, कुसुम, आतप, खग?
जो एक, असीम, अखंड, मधुर व्यापकता
खो गई तुम्हारी वह जीवन सार्थकता।
लगती विश्री औ' विकृत आज मानव कृति,
एकत्व शून्य है विश्व मानवी संस्कृति!

मई, १९३५]

ताज

हाय! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन!
स्फटिक सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न क्षुधातुर, वास विहीन रहें जीवित जन?

मानव! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति!!
प्रेम अर्चना यही, करें हम मरण को वरण?
स्थापित कर कंकाल, भरें जीवन का प्रांगण?
शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का?

युग युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर
मानव के मोहांध हृदय में किए हुए घर!
भूल गए हम जीवन का संदेश अनश्वर
मृतकों के है मृतक, जीवितों का है ईश्वर!

अक्तूबर, १९३५]

कलरव

बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट—
है चहक रहीं चिड़ियाँ
टी वी टी—टुट् टुट्!

वे ढाल ढाल कर उर अपने
है बरसा रही मधुर सपने
श्रम जर्जर विधुर चराचर पर,
गा गीत स्नेह वेदना सने!

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग,
भारी है जीवन! भारी पग!!
आः, गा गा शत शत सहृदय खग,
संध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग
औ' गंध पवन झल मंद व्यजन
भर रहे नया इनमें जीवन,
ढीली हैं जिनकी रग रग!

—यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला,
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आ रहा,—सृष्टि के साथ पला

× × × ×

गा सके खगों सा मेरा कवि,
विश्री जग की संध्या की छबि !
गा सके खगों सा मेरा कवि,
फिर हो प्रभात,—फिर आए रवि !

अक्तूबर, १९३५]

प्रबोधन

जगती के जन पथ कानन में
तुम गाओ विहग ! अनादि गान,
चिर शून्य शिशिर पीड़ित जग में
निज अमर स्वरों से भरो प्राण !

जल, स्थल, समीर, नभ में व्यापक
छेड़ो उर की पावक पुकार,
बहुशाखाओं की जगती मे
बरसा जीवन संगीत प्यार !
तुम कहो, गीतखग ! डालों में
जो जाग पड़ीं कलियाँ अजान,
वह विटपों का श्रम पुण्य नहीं
मधु ऋतु का मुक्त, अनंत दान !

जो सोए स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात,
जो देख चुके जीवन निशीथ
वे देखेंगे जीवन प्रभात !

मई, १९३५]

तारों का नभ

तारों का नभ! तारों का नभ!
सुदर, समृद्ध आदर्श सृष्टि!

जग के अनादि पथदर्शक वे,
मानव पर उनकी लगी ष्टि!
देवबाल भू को घेरे
भावी भव की कर रहे पुष्टि!

सेबों की कलियों सा प्रभूत
वह भावी जगजीवन विकास!
मानव का विश्वमिलन पवित्र,
चेतन आत्माओं का प्रकाश!

तारों का नभ! तारों का नभ!
अंकित अपूर्व आदर्शसृष्टि!
शाश्वत शोभा का खिला स्वर्ग,
अब होने को है पुष्प वृष्टि!
चाँदनी चेतना की अमंद
अगजग को छू दे रही तुष्टि!

अक्तूबर, १९३५]

जीवन का फल

जीवन का फल, जीवन का फल !
यह चिर यौवनश्री से मांसल !

इसके रस में आनंद भरा,
इसका सौन्दर्य सदैव हरा,
पा दुख सुख का छाया प्रकाश
परिपक्व हुआ इसका विकास,
इसकी मिठास है मधुर प्रेम,
औ' अमर बीज चिर विश्वक्षेम !

जीवन का फल, जीवन का फल !
इसका रस लो,—हो जन्म सफल !

तीखे, चमकीले दाँत चुभा
चाबो इसको, क्यों रहे लुभा ?
निर्भीक बनो, साहसी, शक्त,
जीवनप्रेमी,—मत हो विरक्त !
सुन्दर : इच्छा की धरो आग,
प्रिय जगती पर दयिताऽनुराग !

मई, १९३५]

विश्वासचरण

बढ़ो अभय, विश्वासचरण धर!
सोचो वृथा न भव भय कातर!
ज्वाला के विश्वास के चरण,
जीवनमरण समुद्र संतरण,
सुख दुख की लहरों के शिर पर
पग धर, पार करो भवसागर!
बढ़ो, बढ़ो विश्वासचरण धर!

क्या जीवन? क्यों? क्या जग कारण?
पाप पुण्य, सुख दुख का वारण?
व्यर्थ तर्क! यह भव लोकोत्तर
बढ़ती लहर, बुद्धि से दुस्तर!
पार करो विश्वासचरण धर!

जीवन पथ तमिस्रमय निर्जन,
हरती भव तम एक लघु किरण
यदि विश्वास हृदय में अणुभर
देंगे पथ तुमको गिरि सागर
बढ़ो, अमर विश्वासचरण धर!

मई, १९३५]

जीवन सिद्धि

जगजीवन में जो चिर महान
सौन्दर्यपूर्ण औ' सत्यप्राण,
मे उसका प्रेमी बनूं, नाथ!
जिसमें मानव हित हो समान!

जिससे जीवन में मिले शक्ति,
छूटें भय, संशय, अंधभक्ति,
मैं वह प्रकाश बन सकूं, नाथ!
मिल जावें जिसमे अखिल व्यक्ति!

दिशिदिश मे प्रेमप्रभा प्रसार,
हर भेदभाव का अंधकार,
मैं खोल सकूं चिर मुंदे नाथ!
मानव के उर के स्वर्गद्वार!

पाकर, प्रभु! तुमसे अमर दान
करने मानव का परित्राण,
ला सकूं विश्व में एक बार
फिर से नव जीवन का विहान!

मई, १९३५]

जड़चेतन

ए मिट्टी के ढेले अजान!
तू जड़ अथवा चेतना प्राण?
क्या जड़ता चेतनता समान,
निर्गुण, निसंग, निस्पृह, वितान?

कितने तृण, पौधे, मुकुल, सुमन,
संसृति के रूप रंग मोहन,
ढीले कर तेरे जड़ बंधन
आए औ' गए! (यही क्या मन?)

अब हुआ स्वप्न मधु का जीवन,
विस्मृति सुख दुख, स्मृति के बंधन!
खुल गया शून्यमय अवगुंठन
अज्ञेय सत्य तू जड़चेतन!

न, १९३५]

आकांक्षा

झर पड़ता जीवन डाली से
मैं पतझड़ का सा जीर्ण पात!—
केवल, केवल जग आँगन में
लाने फिर से मधु का प्रभात!

मधु का प्रभात!—लद लद जातीं
वैभव से जग की डाल डाल,
कलि कलि, किसलय में जल उठती
सुदरता की स्वर्गीय ज्वाल!
नव मधु प्रभात!—गूँजते मधुर
उर उर मे नव आशाऽभिलाष,
सुख सौरभ, जीवन कलरव से
भर जाता सूना महाकाश!

आः मधु प्रभात!—जग के तम में
भरती चेतना अमर प्रकाश,
मुरझाए मानस मुकुलों में
पाती नव मानवता विकास!

मधु युग प्रभात! नभ में सस्मित
नाचती धरित्री मुक्त पाश!

रवि शशि केवल साथी होते,
अविराम प्रेम करता प्रकाश!

मैं झरता जीवन डाली से
साह्लाद, शिशिर का शीर्ण पात!
फिर से जगती के कानन में
आ जाता नव मधु का प्रभात!

अप्रैल, १९३५]

शुक्र

द्वाभा के एकाकी प्रेमी,
नीरव दिगंत के शब्द मौन,
रवि के जाते, स्थल पर आते
कहते तुम तम से तमक—'कौन ?'
संध्या के सोने के नभ पर
तुम उज्वल हीरक सदृश जड़े,
उदयाचल पर दीखते प्रात
अँगूठे के बल हुए खड़े !

अब सूनी दिशि औ' श्रांत वायु,
कुम्हलाई पकज कली सृष्टि,
तुम डाल विश्व पर करुण प्रभा
अविराम कर रहे प्रेम वृष्टि !
ओ छोटे शशि, चाँदी के उडु !
जब जब फैले तम का विनाश,
तुम दिव्य दूत से उतर शीघ्र
बरसाओ निज स्वर्गिक प्रकाश !

१९३५]

छाया

खोलो, मुख से घूँघट खोलो,
हे चिर अवगुंठनमयि, बोलो!
क्या तुम केवल चिर अवगुंठन,
अथवा भीतर जीवन कंपन?
कल्पना मात्र मृदु देह लता,
पा ऊर्ध्व ब्रह्म, माया विनता!
है स्पृश्य, स्पर्श का नहीं पता,
है दृश्य, दृष्टि पर सके बता!

पट पर पट केवल तम अपार,
पट पर पट खुले, न मिला पार!
सखि, हटा अपरिचय अंधकार
खोलो रहस्य के मर्म द्वार!
मैं हार गया तह छील छील,
आँखों से प्रिय छवि लील लील,
मैं हूँ या तुम? यह कैसा छल!
या हम दोनों, दोनों के वल?

तुम मे कवि का मन गया समा,
तुम कवि के मन की हो सुषमा;
हम दो भी है या नित्य एक?
तब कोई किसको सके देख?

ओ मौन चिरंतन, तम प्रकाश,
चिर अवचनीय, आश्चर्य पाश!
तुम अतल गर्त अविगत अकूल,
फैली अनंत में बिना मूल!
अज्ञेय, गुह्य, अग जग छाई,
माया मोहिनि, सँग सँग आई!
तुम कुहकिनि, जग की मोह निशा,
मैं रहूँ सत्य, तुम रहो मृषा!

अप्रैल, १९३६]

वसंत

चंचल पग दीप शिखा के धर
गृह, मग, वन में आया वसंत !
सुलगा फाल्गुन का सूनापन
सौन्दर्य शिखाओं में अनंत !
सौरभ की शीतल ज्वाला से
फैला उर उर में मधुर दाह
आया वसंत, भर पृथ्वी पर
स्वर्गिक सुंदरता का प्रवाह !

पल्लव पल्लव में नवल रुधिर,
पत्रों मे मांसल रंग खिला,
आया नीली पीली लौ से
पुष्पों के चित्रित दीप जला !
अधरों की लाली से चुपके
कोमल गुलाब के गाल लजा,
आया, पंखड़ियों को काले—
पीले धब्बों से सहज सजा।

कलि के पलकों में मिलन स्वप्न,
अलि के अंतर मे प्रणय गान
लेकर आया प्रेमी वसंत,—
आकुल जड़ चेतन स्नेह प्राण !

काली कोकिल!—सुलगा उर में
स्वरमयी वेदना का अँगार,
आया वसंत, घोषित दिगंत
करती, भर पावक की पुकार!
आः, प्रिये! निखिल ये रूप रंग
रिल मिल अंतर में स्वर अनंत
रचते सजीव जो प्रणय मूर्ति
उसकी छाया, आया वसंत!

अप्रैल, १९३५]

अल्मोड़े का वसंत

विद्रुम औ' मरकत की छाया,
सोने चाँदी का सूर्यातप;
हिम परिमल की रेशमी वायु;
शत रत्नछाय, खग चित्रित नभ!
पतझड़ के कृश, पीले तन पर
पल्लवित तरुण लावण्य लोक;
शीतल हरीतिमा की ज्वाला
फैली दिशि दिशि कोमलाऽलोक!

आह्लाद, प्रेम औ' यौवन का
नव स्वर्ग: सद्य सौन्दर्य सृष्टि;
मंजरित प्रकृति, मुकुलित दिगंत,
कूजन गुंजन की व्योम वृष्टि!
—लो, चित्रशलभ सी, पंख खोल
उड़ने को है कुसुमित घाटी,—
यह है अल्मोड़े का वसंत,
खिल पड़ीं निखिल पर्वत पाटी!

मई, १९३५]

विजन घाटी

वह विजन चाँदनी की घाटी
छाई मृदु वन तरु गंध जहाँ,
नीबू आड़ू के मुकुलों के
मद से मलयानिल सदा वहाँ!

सौरभ श्लथ हो जाते तन मन,
बिछते झर झर मृदु सुमन शयन,
जिन पर छन, कंपित पत्रों से,
लिखती कुछ ज्योत्स्ना जहाँ तहाँ!

आ कोकिल का कोमल कूजन,
उकसाता आकुल उर कंपन,
यौवन का री वह मधुर स्वर्ग,
जीवन बाधाएँ वहाँ कहाँ?

मई, १६३५]

प्रथम मिलन

मंजरित आम्र वन छाया में
हम प्रिये, मिले थे प्रथम बार,
ऊपर हरीतिमा नभ गुंजित,
नीचे चंद्रातप छना स्फार!
तुम मुग्धा थी, अति भाव प्रवण,
उकसे थे अँबियों से उरोज,
चंचल, प्रगल्भ, हँसमुख, उदार,
मै सलज,—तुम्हें था रहा खोज!

छनती थी ज्योत्स्ना शशि मुख पर,
मैं करता था मुख सुधा पान,—
कूकी थी कोकिल, हिले मुकुल,
भर गए गंध से मुग्ध प्राण!
तुमने अधरों पर धरे अधर,
मैंने कोमल वपु भरा गोद,
था आत्म समर्पण सरल, मधुर,
मिल गए सहज मारुतामोद!

मंजरित आम्र द्रुम के नीचे
हम प्रिये, मिले थे प्रथम बार,
मधु के कर में था प्रणय बाण,
पिक के उर में, पावक पुकार!

मई, १९३५]

स्वर्ग किरण

खो गई स्वर्ग की स्वर्ण किरण
छू जग जीवन का अंधकार,
मानस के सूने से तम को
दिशि पल के स्वप्नों में सँवार!

गुँथ गए अजान तिमिर प्रकाश
दे दे जग जीवन को विकास,
बहु रूप रंग रेखाओं में
भर विरह मिलन का अश्रु हास!
घुन जग का दुर्गम अंधकार,
चुन नाम रूप का अमृत सार,
मैं खोज रहा खोया प्रकाश
सुलझा जीवन के तार तार!

खो गई स्वर्ग की अमर किरण
कुसुमित कर जग का अंधकार,
जाने कब भूल पड़ा निज को
मैं उसको फिर इसको निहार!

अप्रैल, १९३९]

अंतः दृष्टि

सुदरता का आलोक स्रोत
है फूट पड़ा मेरे मन में,
जिससे नव जीवन का प्रभात
होगा फिर जग के आँगन में!

मेरा स्वर होगा जग का स्वर,
मेरे विचार जग के विचार,
मेरे मानस का स्वर्गलोक
उतरेगा भू पर नई बार!

सुदरता का संसार नवल
अंकुरित हुआ मेरे मन में,
जिसकी नव मांसल हरीतिमा
फैलेगी जग के गृह वन में!

होगा पल्लवित रुधिर मेरा
बन जग के जीवन का वसंत,
मेरा मन होगा जग का मन,
औ' मैं हूँगा जग का अनंत!

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास मुझे
मिल सका नही जग मे बाहर!

अप्रैल, १६३६]

नव बंधन

बाँधोऽ, छबि के नव बंधन बाँधो !
नव नव आशाऽकांक्षाओं में
तन मन जीवन बाँधो !
छबि के नव—

भाव रूप में, गीत स्वरों में
गंध कुसुम में, स्मित अधरों में
जीवन की तमिस्र वेणी में
निज प्रकाश कण बाँधो !
छबि के नव—

सुख से दुख औ' प्रलय से सृजन,
चिर आत्मा से अस्थिर रज तन,
महामरण को जगजीवन का
दे आलिंगन, बाँधो !
छबि के नव—

बाँधो जलनिधि लघु जलकण में,
महाकाल को कवलित क्षण में,
फिर फिर अपनेपन को मुझ में
चिर जीवन धन ! बाँधो
छबि के नव—

जुलाई, १९३४]

तितली

नीली, पीली औ' चटकीली
पंखों की प्रिय पंखड़ियाँ खोल,
प्रिय तिली ! फूल सी ही फूली
तुम किस सुख में हो रही डोल ?
चाँदी सा फैला है प्रकाश,
चंचल अंचल सा मलयानिल,
है दमक रही दोपहरी में
गिरिघाटी सौ रंगों में खिल !

तुम मधु की कुसुमित अप्सरि सी
उड़ उड़ ,फूलों को बरसाती
शत इंद्रचाप रच रच प्रतिपल
किस मधुर गीति लय में जाती ?
तुमने यह कुसुम विहग लिवास
क्या अपने सुख से स्वयं बुना ?
छाया प्रकाश से या जग के
रेशमी परों का रंग चुना ?

क्या बाहर से आया, रंगिणि !
उर का यह आतप, यह हुलास ?
या फूलों से ली अनिल कुसुम !
तुमने मन के मधु की मिठास ?

चाँदी का चमकीला आतप,
हिम परिमल चंचल मलयानिल,
है दमक रही गिरि की घाटी
शत रत्न छाय रंगों में खिल

'—चित्रिणि! इस सुख का स्रोत कहाँ
जो करता नित सौन्दर्य सृजन?'
'वह स्वर्ग छिपा उर के भीतर'—
क्या कहती यही सुमन चेतन?

मई, १९३५]

संध्या

कहो, तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप,
सुनहला फैला केश कलाप
मधुर, मंथर, मृदु, मौन !

मूंद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष पदों में चाप,
भावसंकुल, बंकिम, भ्रूचाप,
मौन, केवल तुम मौन !

ग्रीव तिर्यक, चंपक द्युति गात,
नयन मुकुलित, नत मुख जलजात,
देह छवि छाया में दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?

अनिल पुलकित स्वर्णाचल लोल,
मधुर नूपुर ध्वनि खगकुल रोल,
सीप से जलदों के पर खोल,
उड़ रही नभ में मौन !

लाज से अरुण अरुण सुकपोल,
मदिर अधरों की सुरा अमोल,—
बने पावस घन स्वर्ण हिंदोल,
कहो, एकाकिनि, कौन?
मधुर, मंथर तुम मौन!

सितम्बर, १९३०]

मधु स्मृति

उड़ता है जब प्राण!
तुम्हारी सारी का सित छोर;
सौ वसंत, सौ मलय
हृदय को करते गंध विभोर!

उड़ता उर से कभी
तुम्हारी सारी का जब छोर!

ग्रीवा मोड़, कभी विलोकती
जब तुम वंकिम कोर,
खिल खिल पड़ते श्वेत कमल,
नाचतीं विलोल हिलोर!

ग्रीवा मोड़, हंसिनी सी,
देखती फेर जब कोर!

जब जब प्राण! तुम्हारी मधु स्मृति
देती मुझको वोर,
जीवन के घन अंधकार मे
हो उठता नव भोर!

मधुर प्रेम की उज्वल स्मृति ज
देती मन को वोर!

१६३८]

खद्योत

अँधियाली घाटी में सहसा
हरित स्फुलिंग सदृश फूटा वह !
वह उड़ता दीपक निशीथ का,—
तारा सा आकर टूटा वह !
जीवन के घन अधकार मे
मानव आत्मा का प्रकाश कण
जग सहसा, ज्योतित कर देता
मानस के चिर गुह्य कुज वन !

मई, १६३५]

मानव

सुंदर है विहग, सुमन सुंदर,
मानव ! तुम सबसे सुंदरतम,
निर्मित सब की तिल सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम !
यौवन ज्वाला से वेष्टित तन,
मृदु त्वच, सौन्दर्य प्ररोह अंग,
न्योछावर जिन पर निखिल प्रकृति,
छाया प्रकाश के रूप रंग !

धावित कृश नील शिराओं में
मदिरा से मादक रुधिर धार,
आँखें हैं दो लावण्य लोक,
स्वर में निसर्ग संगीत सार !
पृथु उर, उरोज, ज्यों सर, सरोज,
दृढ़ बाहु प्रलंब प्रेम बंधन,
पीनोरु स्कंध जीवन तरु के,
कर पद, अंगुलि, नख शिख शोभन !

यौवन की मांसल, स्वस्थ गंध,
नव युग्मों का जीवनोत्सर्ग !
आह्लाद अखिल, सौन्दर्य अखिल,
आः, प्रथम प्रेम का मधुर स्वर्ग !

आशाऽभिलाष, उच्चाकांक्षा,
उद्यम अजस्र, विघ्नों पर जय,
विश्वास, असद् सद् का विवेक,
दृढ़ श्रद्धा, सत्य प्रेम अक्षय!

मानसी भूतियाँ ये अमंद
सहृदयता, त्याग, सहानुभूति,—
जो स्तभ सभ्यता के पार्थिव,
संस्कृति स्वर्गीय,—स्वभाव पूर्ति!
मानव का मानव पर प्रत्यय,
परिचय, मानवता का विकास,
विज्ञान ज्ञान का अन्वेषण,
सब एक, एक सब में प्रकाश!

प्रभु का अनंत वरदान तुम्हे,
उपभोग करो प्रतिक्षण नव नव,
क्या कमी तुम्हे है त्रिभुवन मे
यदि वने रह सको तुम मानव?

अप्रैल, १९३५]

सृष्टि

मिट्टी का गहरा अंधकार,
डूबा है उसमें एक बीज,—
वह खो न गया, मिट्टी न बना,
कोदों सरसों से क्षुद्र चीज!
उस छोटे उर में छिपे हुए
हैं डाल, पात, औ' स्कंध, मूल,
संसृति की गहरी हरीतिमा,
बहु रूप रंग, फल और फूल!

वह है मुट्ठी में बंद किए
वट के पादप का महाकार,
संसार एक, आश्चर्य एक,
वह एक बूंद, सागर अपार!
बंदी उसमें जीवन अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बंधन
पाने को है निज सत्य, मुक्ति,
जड़ निद्रा से जग, बन चेतन!

आः, भेद न सका सृजन रहस्य
कोई भी, वह जो क्षुद्र पोत
उसमें अनंत का है निवास,
वह जग जीवन से ओतप्रोत!

मिट्टी का गहरा अंधकार,
सोया है उसमें एक बीज,—
उसका प्रकाश उसके भीतर,
वह अमर पुत्र ! वह तुच्छ चीज ?

मई, १९३५]

बापू के प्रति

तुम मांस हीन, तुम रक्त हीन,
हे अस्थि शेष ! तुम अस्थि हीन,
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण, हे चिर नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमे असार भव शून्य लीन ;
आधार अमर, होगी जिस पर
भावी की संस्कृति समासीन ?

तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त अस्थि,—
निर्मित जिनसे नवयुग का तन
तुम धन्य ! तुम्हारा निःस्व त्याग
हैं विश्व भोग का वर साधन !
इस भस्म काम की रज से
जग पूर्ण काम नव जग जीवन
बीनेगा सत्य अहिंसा के
ताने बानों से मानवपन !

सदियों का दैन्य तमिस्र तूम,
धुन तुमने, कात प्रकाश सूत,
हे नग्न ! नग्न पशुता ढँक दी
बुन नव संस्कृत मनुजत्व पूत !

जग पीड़ित छूतों से प्रभूत ;
छू अमृत स्पर्श से हे अछूत !
तुमने पावन कर, मुक्त किए
मृत संस्कृतियो के विकृत भूत !

सुख भोग खोजने आते सब,
आए तुम करने सत्य खोज,
जग की मिट्टी के पुतले जन,
तुम आत्मा के, मन के मनोज !
जड़ता, हिंसा, स्पर्धा में भर
चेतना, अहिंसा, नम्र ओज,
पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज !

पशुबल की कारा से जग को
दिखलाई आत्मा की विमुक्ति,
विद्वेष, घृणा से लड़ने को
सिखलाई दुर्जय प्रेम युक्ति ;
वर श्रम प्रसूति से की कृतार्थ
तुमने विचार परिणीत उक्ति,
विश्वानुरक्त हे अनासक्त !
सर्वस्व त्याग को बना भुक्ति !

सहयोग सिखा शासित जन को
शासन का दुर्वह हरा भार,
होकर निरस्त्र, सत्याग्रह से
रोका मिथ्या का बल प्रहार ;

वह भेद विग्रहों में खोई
ली जीर्ण जाति क्षय से उबार,
तुमने प्रकाश को कह प्रकाश,
औ' अंधकार को अंधकार!

उर के चरखे में कात सूक्ष्म
युग युग का विषय जनित विषाद,
गुंजरित कर दिया गगन जग का
भर तुमने आत्मा का निनाद!
रँग रँग खद्दर के सूत्रों में
नव जीवन आशा स्पृहा, ह्लाद,
मानवी कला के सूत्रधार!
हर दिया यंत्र कौशल प्रवाद!

जड़वाद जर्जरित जग में तुम
अवतरित हुए आत्मा महान,
यंत्राभिभूत युग में करने
मानव जीवन का परित्राण;
वह छाया बिंबो में खोया
पाने व्यक्तित्व प्रकाशवान,
फिर रक्त मांस प्रतिमाओं मे
फूंकने सत्य से अमर प्राण!

संसार छोड़ कर ग्रहण किया
नर जीवन का परमार्थ सार,
अपवाद बने मानवता के
ध्रुव नियमों का करने प्रचार;

हो सार्वजनिकता जयी, अजित!
तुमने निजत्व निज दिया हार,
लौकिकता को जीवित रखने
तुम हुए अलौकिक, हे उदार!

मंगल शशि लोलुप मानव थे
विस्मित ब्रह्मांड परिधि विलोक,
तुम केन्द्र खोजने आए तब
सब में व्यापक, गत राग शोक;
पशु पक्षी पुष्पों से प्रेरित
उद्दाम काम जन क्रांति रोक,
जीवन इच्छा को आत्मा के
वश में रख, शासित किए लोक!

था व्याप्त दिशावधि ध्वांत: भ्रात
इतिहास विश्व उद्भव प्रमाण,
बहु हेतु, बुद्धि, जड़ वस्तु वाद
मानव संस्कृति के बने प्राण;
थे राष्ट्र, अर्थ, जन, साम्यवाद
छल सभ्य जगत के शिष्ट मान,
भू पर रहते थे मनुज नहीं,
बहु रूढ़ि रीति प्रेतों समान—

तुम विश्व मच पर हुए उदित
बन जग जीवन के सूत्रधार,
पट पर पट उठा दिए मन से
कर नर चरित्र का नवोद्धार;

आत्मा को विषयाधार बना,
दिशि पल के दृश्यों को सँवार,
गा गा--एकोऽहं बहु स्याम,
हर लिये भेद, भव भीति भार!

एकता इष्ट निर्देश किया,
जग खोज रहा था जब समता,
अंतर शासन चिर राम राज्य,
औ' बाह्य, आत्महन अक्षमता;
हों कर्म निरत जन, राग विरत,
रति विरति व्यतिक्रम भ्रम ममता,
प्रतिक्रिया क्रिया साधन अवयव,
है सत्य सिद्ध, गति यति क्षमता!

ये राज्य प्रजा, जन, साम्य तंत्र
शासन चालन के कृतक यान,
मानस, मानुपी, विकास शास्त्र
है तुलनात्मक, सापेक्ष ज्ञान;
भौतिक विज्ञानों की प्रसूति
जीवन उपकरण चयन प्रधान,
मथ सूक्ष्म स्थूल जग, बोले तुम—
मानव मानवता से महान!

साम्राज्यवाद था कंस, बंदिनी
मानवता पशु बलाक्रांत,
शृंखला दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासन - पद शक्ति भ्रांत,

कारा गृह में दे दिव्य जन्म
मानव आत्मा को मुक्त, कांत,
जन शोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत पद प्रणत शांत!

कारा थी संस्कृति विगत, भित्ति
बहु धर्म जाति गत रूप नाम
बंदी जग जीवन, भू विभक्त
विज्ञान मूढ जन प्रकृति काम
आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
मिथ्या जड़ बंधन, सत्य राम,
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः,
जय ज्ञान ज्योति, तुमको प्रणाम!

अप्रैल, १९३६]

पंक्ति-सूची